श्रीमद्भगवद्गीता प्रवचनामृत

अप्रैल 29, 2001
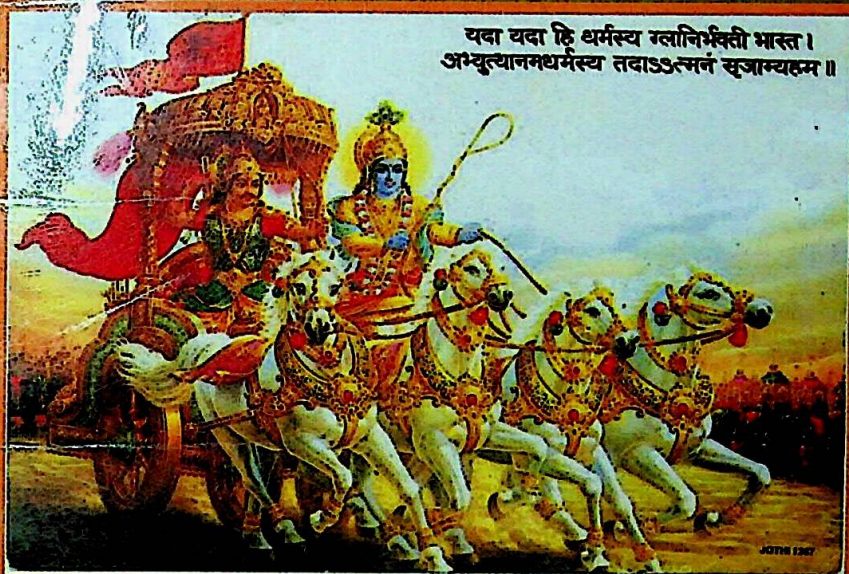
सम्पादक

डॉ. उषा रानी बंसल

सचिव, गीता समिति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

श्रीमद्भागवद्गीता प्रवचनामृत

सम्पादक

डा० उषा रानी बंसल

सचिव, गीता समिति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

अप्रैल २९, २००१

प्रो. वाई. सी. सिम्हाद्रि
कुलपति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

संदेश
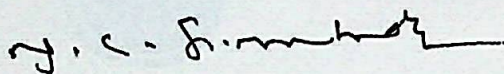
मालवीय भवन महामना पंडित मदन मोहन मालवीय की तपस्थली है। उनका प्रिय ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता था। उन्होंने आजन्म गीता के दिखाये मार्ग का अनुशीलन किया। विश्वविद्यालय परिवार में मानव मूल्यों की संस्थापना के लिये वह स्वयं गीता पर उपदेश दिया करते थे। आत्मानुशासन ही सफलता की प्रथम सीढ़ी है। जो अपने मन को अनुशासित कर लेता है उसके लिये जीवन संघर्ष सहज हो जाता है। यही श्रीमद्भगवद्गीता का संदेश है।

सत्र २०००—२००१ में प्रत्येक रविवार को परम्परानुसार जिस प्रवचनमाला का सफल आयोजन हुआ उसका संकलन ''श्रीमद्भगवद्गीता प्रवचनामृत'' के रूप में प्रकाशित करने का सराहनीय कार्य गीता समिति की सचिव डा० उषा रानी बंसल ने किया है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में भी प्रवचनों के स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित होते रहेंगे जिससे जिज्ञासु छात्रों और सुधि भक्तों के लिए गीतोपदेश उपलब्ध होता रहेगा।

सभी प्रवचन कर्त्ताओं तथा गीता समिति के आयोजकों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की मंगल कामना करता हूँ।

(प्रो० वाई० सी० सिम्हाद्रि)
अध्यक्ष, गीता समिति
अप्रैल २९, २००१

दो शब्द

महामना का यह . गुण मन्दिर अप्रतिम है। पंडित मालवीय ऋषिकल्प मनीषी थे। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता को विश्वविद्यालय का आधार बनाया। प्रत्येक रविवार को आर्टस कालिज में श्रीमद्भगवद्गीता की गौरवमयी परम्परा प्रारंभ कर मालवीय जी ने एक शिक्षण संस्था को पवित्र तपस्थली बना दिया।

मालवीय भवन से धारावाहिक रूप में प्रत्येक शिक्षण सत्र में गीता प्रवचन माला का आयोजन महामना के द्वारा प्रारंभ परम्परा का ही सुफल है। सत्र २०००—२००१ में मालवीय भवन में प्रत्येक रविवार को धारावाहिक रूप में ३६ तथा २ विशेष प्रवचन हुए। इन प्रवचनों का सार संक्षेप प्रकाशित करने का कार्य प्रवचन माला के समापन समारोह तक करने का विचार किया गया। सीमित साधनों के द्वारा यह कार्य अत्यंत कठिन जान पड़ रहा था। लेकिन आनंद कंद गोवर्धन गिरधारी ने अपने हाथ का सबंल देकर इसे संभव बना दिया। समस्त गोकुलवासियों के रूप में टाईपिस्ट श्री राजेश तिवारी, कु० नीलम जायसवाल तथा गीता समिति के कार्यकर्त्ता श्री पी. रवि कुमार, श्री माधव, श्री योगेश कुमार भट्ट आदि स्मारिका के प्रकाशन में सहायक बने। हम उन सबका आभार प्रकट करते हैं। प्रो० बृज बिहारी बंसल ने समस्त सुविधायें उपलब्ध कराकर इस प्रकाशन को मूर्त्तरूप देने में जो सहायता दी उसके लिये हम आभारी हैं। सभी प्रवचन कर्त्ताओं तथा गीता समिति के सदस्यों के योगदान के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

उषा रानी बंसल
सचिव, गीता समिति

गीता समिति सत्र २०००—२००१

1. प्रो० वाई. सी. सिम्हाद्रि — अध्यक्ष
   कुलपति

2. प्रो० के. डी. त्रिपाठी — उपाध्यक्ष
   कार्यकारिणी

3. प्रो० आर. एच. सिंह — सदस्य
   मा० निदेशक मालवीय भवन

4. प्रो० एन. आर. श्रीनिवासन — सदस्य
   संकाय प्रमुख, प्रा. वि. ध. वि. संकाय

5. प्रो० आर. पी. शास्त्री — सदस्य
   संकाय प्रमुख—मंच कला संकाय

6. प्रो० पी. सी. उपाध्याय — सदस्य
   कुलसचिव

7. श्री आर. एस. द्विवेदी — सदस्य
   वित्त अधिकारी

8. डा० जी. ए. शास्त्री — सदस्य
   प्रा. वि. ध. वि. संकाय

9. डा० श्रीमती उषा रानी बंसल — सदस्य सचिव
समाज विज्ञान संकाय

10. डा० के. के. शर्मा — संयुक्त सचिव
प्रा. वि. ध. वि. संकाय

11. डा० उपेन्द्र पाण्डेय — संयुक्त सचिव
प्रा. वि. ध. वि. संकाय

12. डा० विभारानी दूबे — संयुक्त सचिव
महिला महाविद्यालय

अनुक्रम

प्रस्तावना

डा० उषा रानी बंसल
सचिव
गीता समिति,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

व्यासाय विष्णुरूपाय विष्णवे
नमो वै ब्रह्मविधये वासिष्ठाय नमो नमः। (*महाभारत*)

अर्थात व्यास रूपी विष्णु को नमस्कार, विष्णुरूप व्यास देव को नमस्कार, वेदों के विभाग करने वाले व्यास भगवान को नमस्कार तथा वशिष्ठ गोत्र में उत्पन्न पराशर के पुत्र कृष्ण द्वैपायन को नमस्कार है।

काशी नगरी ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित तथा प्रदीप्त है। प्रयाग में जन्मे पंडित मदनमोहन मालवीय जी ने काशी में ज्ञान की गंगा को प्रवाहमान करने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। मालवीय जी ने अंग्रेजी शासन की विषम परिस्थितियों में गैर सरकारी विश्वविद्यालय की स्थापना करके अनूठा कार्य किया। कदाचित मालवीय जी का उद्देश्य था कि विश्वविद्यालय में समस्त विधाओं का अध्ययन–अध्यापन हो। वह चाहते थे कि ज्ञान का प्रकाश अध्यात्मिक अनुभव के साथ जुड़कर हो। अध्यात्मिक चेतना के बिना ज्ञान अधूरा रह जाता है। मनुष्य इस संसार में आकर यूँ ही लौट जाने वाला प्राणी नहीं, वह तो ऐसा वीर है जो संसार को जीत कर जाता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को कर्म में

संसारी होना चाहिए। लेकिन ज्ञान में संसार से परे 'तत्व' पर अवस्थित रहना चाहिए।

मालवीय जी महाराज कर्मयोगी थे। वे श्रीमद्भगवद् के ज्ञाता ही नहीं थे वरन् उन्होंने अपना जीवन गीता के अनुरूप जिया। वह निष्कामकर्म के जीवंत उदाहरण हैं। पंडित जी, विश्वविद्यालय में प्रभु के श्रीवचनों का प्रकाश फैलाने के लिए प्रत्येक रविवार को प्रात: श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन करते थे। मालवीय जी महाराज विराट कल्पना में थे कि सूर्योदय के समय भगवान सूर्य का उपस्थान करें। अपने धर्म को सुने और समझें। विश्वविद्यालय के छात्र प्रभु के वचनों का श्रवण करें, उसको समझें तथा अपनी परम्पराओं को आत्मसात करें। मालवीय जी का प्रवचन सुनने शिक्षक, कर्मचारी, छात्र, काशी के विद्वान तथा देश भर से लोग आते थे। इस दृष्टिकोण से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एक अनूठा विश्वविद्यालय था जहाँ प्रति रविवार को गीता प्रवचन होता था। इसमें कृष्ण जन्माष्टमी तथा बसंतपंचमी उत्सव के रूप में उत्साह से मनाये जाते थे।

पंडित मदनमोहन मालवीय जी के बाद भी इस परम्परा का निर्वाह होता रहा। संस्कृत महाविद्यालय के पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने वर्षों तक श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों की धारावाहिक व्याख्या प्रस्तुत की। जिसे वासुदेवशरण अग्रवाल ने संकलित कर प्रकाशित कराया। डा० राधाकृष्णनन् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति पद से श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन करते रहे। जस्टिस भगवती जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति बने तो उन्होंने वर्तमान रविवासरीय गीता प्रवचन माला का पोषण किया। इस प्रवचन माला की दो विधियां बनी। एक तो धारावाहिक रविवासरीय प्रवचन श्रृंखला।

इसमें सत्र के अन्त में गीता पर परीक्षा होती थी और उसके बाद प्रमाण पत्र दिया जाता था। ये व्याख्यान कक्षा के रूप में था। जिसमें अध्याय के क्रमानुसार श्लोकानुसार चर्चा की जाती थी। दूसरा तरीका विशिष्ट प्रवचन का था। किसी भी विषय पर संत, विद्वान भक्तों, तथा चिंतकों आदि का विशेष प्रवचन आयोजित किया जाता था।

धारावाहिक रविवासरीय प्रवचन में माननीय कुलपति भगवती जी ने प्रवचन से पूर्व गीता के एक अध्याय के पाठ को सम्मिलित करवाया। संभवतया उनका भाव था कि गीता पर प्रवचन करते समय उस अध्याय पर विशेष चर्चा की जाए। भगवद्गीता की मीमांसा को समझने के लिए चित्तवृत्तियों का निरोध करना होता है। चित्त बड़ा ही चंचल है। एकाग्र हो योग ही नहीं कर पाता। चित्त की चचंलता दूर करने का एक साधन सत्संग और संकीर्तन है। "कलौ केशव कीर्तनात्" अर्थात कलयुग में कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। कलयुग में चित्त की चंचलता को दूर करने का एक साधन सत्संग तथा संकीर्तन है। कलिकाल में खाद्य पदार्थ भाव दोष तथा गिरिशिखर विचार दोष एवम् वायुमण्डल वातावरण दोष से दूषित है। एकाग्रचित्त, एकाग्रमन से प्रभु के गुणों का गान करने से चित्त स्थिर नहीं होता है। चित्त की इसी चंचलता को दूर करने के लिये, संकीर्त्तनवर श्री चैतन्यदेव ने, संकीर्तन को महत्व दिया। मालवीय भवन में होने वाले रविवासरीय श्रीमद्भगवद्गीता प्रवचन में चित्त को प्रभु के वचनों में स्थिर करने के लिए कार्यक्रम का प्रारंभ तथा अंत भजन गायन से होता है ।

सत्र २०००–२००१ में मालवीय भवन में रविवासरीय प्रवचन श्रृंखला में गीता के विभिन्न पक्षों की वर्तमान के संदर्भ में तुलनात्मक

व्याख्या की गई। वृन्दावन बिहारी आनंदकंद मदनमुरारी ने जिस गीता का संदेश अपने सखा अर्जुन को दिया था उसकी सहज सलिलधारा इस प्रवचनामृत के रूप में मालवीय भवन में प्रवाहमान हुई। इन अमूल्य वचनों का सार संक्षेप संकलित कर अग्रिम प्रयास के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। सभी भगवद् भक्त प्रभु के वचनों के सार संक्षेप से लाभान्वित होंगे ऐसी शुभेच्छा है। वस्तुतः यह लाभ भी मुकुंद माधव की कृपा से ही संभव होता है। जैसा संत शिरोमणि तुलसीदास जी ने लिखा है —

सोई जानई जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हई तुम्हई होई जाई।।

यह काम जब गोविंद गोपाल की मर्जी पर निर्भर है तब कर्त्ता कौन? दादूदयाल जी ने ठीक ही कहा था:

दादू करता हम नहीं, करता और कोय।
करता है, सो क़रेगा, तू जिन करता होय।।

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रणेता आनंदकंद श्रीकृष्ण बांके बिहारी के श्रीचरणों में सार संक्षेप निवेदित करते हुए गीता समिति को अपार हर्ष हो रहा है।

नाम स्मरण की आवश्यकता?

महामना पं० मदन मोहन मालवीय

आप सब लोग भगवन्नाम—जप और कीर्तन करते हैं; किन्तु आप यह तो बतलाइये कि नामजप क्यों करना चाहिए? इससे क्या लाभ है? लोग कहते हैं— भगवान का नाम लेने से पाप कटते हैं, परंतु इसमें युक्ति क्या है? आपमे से कोई भी इसका उत्तर दे। भगवन्नाम—स्मरण से चित्त अनायास ही भगवदाकार हो जाता है। भगवदाकारचित्त में भला पाप—ताप के लिए गुंजाइश कहाँ है? इसीलिए नामस्मरण पाप नाश की अमोघ औषधि है।

बिना जाने समझे भी भगवान का नाम लेने से किस प्रकार पाप नष्ट हो जाते हैं, इसके विषय में श्रीमद्भागवद् के छठे स्कन्ध में एक बड़ी अद्भुत कथा है। अजामिल नाम का एक बड़ा ही दुराचारी और दुष्ट प्रकृति का ब्राह्मण था। उसके सबसे छोटे पुत्र का नाम 'नारायण' था। जब अजामिल का अन्तकाल उपस्थित हुआ तो उसे लेने के लिए यमदूत आए। उनके भयंकर स्वरूप को देखकर अजामिल डर गया और उसने नारायण कहकर अपने छोटे पुत्र को पुकारा। उसके मुख से नारायण शब्द निकलते ही वहाँ विष्णु भगवान के पार्षद उपस्थित हो गयें। उन्होंने तुरंत ही उसे यमदूतों के पाश से छुड़ा लिया। जब यमदूतों ने उसके पापमय जीवन का वर्णन करते हुए यमदण्ड का पात्र बतलाया तो भगवान के पार्षदों ने उनके कथन का विरोध करते हुए कहा—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः।।

एतेनैव ह्यघोनाऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्।।
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः।। (६/२/७, ८, १०)

'इसने तो अपने करोड़ों जन्मों के पापों का प्रायश्चित कर दिया; क्योंकि इस समय इसने विवश होकर भगवान् के मङ्गलमय नाम का उच्चारण किया है। इसने जो 'नारायण' यह चार अक्षरों का नाम उच्चारण किया है, इतने से ही इस पापी के समस्त पापो का प्रायश्चित हो गया। समस्त पापियों के लिये भगवान् विष्णु का नाम लेना ही सबसे अच्छा प्रायश्चित है; क्योंकि चित्त करने से भगवद्विषयक बुद्धि हो जाती है।' संसार में मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म यही है कि वह नाम—जपादि के द्वारा भगवान् के चरणों में भक्ति करे। देखो, यह भगवन्नामोच्चारण का ही महात्म्य है कि अजामिल—जैसा पापी भी मृत्यु के पाश से मुक्त हो गया।

महाभारत शान्तिपर्व की कथा है कि जिस समय शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्म से महाराज युधिष्ठिर ने पूछा—

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्।। *(विष्णुसहस्र० ३)*

'सम्पूर्ण धर्मों में आपके विचार से कौन—सा धर्म सर्वश्रेष्ठ है? और मनुष्य किसका जप करने से जन्म—मरण—रूप संसार से मुक्त हो जाता है?' तब पितामह ने कहा —

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः।।
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।

ध्यायन्स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च।।
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्।।
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम्।
लोकनाथं महद्भूतम सर्वभूतभवोद्भवम्।।
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा।।
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता।। *(विष्णुसहस्र० ४–१०)*

'जो सम्पूर्ण संसार के स्वामी, देवों के देव, अनन्त एवं पुरुषोत्तम हैं, उन आदि–अन्त से रहित, सम्पूर्ण लोकों के महान् ईश्वर और सबके साक्षी भगवान् अच्युत की नित्यप्रति उठकर हजार नामों से स्तुति करने से तथा उन अविनाशी पुरुषोत्तम का ही भक्तिपूर्वक पूजन, ध्यान, स्तवन और वन्दन करने से मनुष्य सम्पूर्ण दुःखों से पार हो जाता है। वे श्रीविष्णु, ब्राह्मणों के हितकारी, समस्त धर्मों के ज्ञाता, लोकों की कीर्ति को बढ़ाने वाले, लोकों के स्वामी, महद्भूत और सम्पूर्ण भूतों के उत्पत्ति का स्थान हैं। मेरे विचार से मनुष्य के सम्पूर्ण धर्मों में सबसे बड़ा धर्म यही है कि जो परम तेज, अति महान् तप, परमोत्कृष्ट ब्रह्म तथा जो पवित्रों में पवित्र, मङ्गल, देवों में महान् देव और समस्त भूतों के अविनाशी पिता हैं, उन कमलनयन भगवान् का मनुष्य सर्वदा भक्तिपूर्वक स्तवन करे।'

इस प्रकार भीष्मजी ने भगवान् को ही सबसे अधिक पूजनीय देव और भगवान्–स्मरण को ही सबसे बड़ा धर्म और तप बतलाया है। भगवन्नाम की महिमा ऐसी ही विचित्र है। इसके उच्चारण मात्र से

ग्रह, नक्षत्र एवं दिग्शूलादि के दोष निवृत्त हो जाते हैं। मैंने अपनी माताजी से वर माँगा था कि 'मुझे प्रायः नित्य ही बाहर जाना–आना होता है, इसलिये ऐसा आशीर्वाद हो जिससे ग्रहदोषजनित विघ्न उपस्थित न हों।' तब मेरी माता ने मुझसे कहा– 'तू यात्रा आरम्भ करने से पूर्व 'नारायण' नाम का उच्चारण कर लिया कर, फिर कोई विघ्न नहीं होगा।' माताजी के इस आशीर्वाद से मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव है, मैं जिस समय 'नारायण' इस प्रकार उच्चारण करके यात्रा आरम्भ करता हूँ तो सारे विघ्न दूर खड़े रह जाते हैं।

यही बात श्रीमद्भागवत के नारायण–कवच नामक प्रसिद्ध स्तोत्र में भी बतलायी गयी है। यह स्तोत्र भी भागवत के छठें स्कन्ध में ही है। वहाँ कहा गया है–

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा।।
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात्।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः।। (८/२७–२८)

'ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, सरीसृप, हिंसक जीवों अथवा पापों से हमें जो भय प्राप्त हो सकते हैं तथा हमारे श्रेयोमार्ग के जो–जो प्रतिबन्ध हैं, वे इस भगवन्नामरूप अस्त्र (कवच) का कीर्तन करने से क्षीण हो जायँ।'

भगवन्नाम लेने से मनुष्य के सारे पाप उसी प्रकार कट जाते हैं, जैसे दूध डालने से चीनी का मैल कट जाता है। नाम का प्रभाव हमारे चित्त को सर्वथा व्याप्त कर लेता है। जिस प्रकार जल में तेल की एक भी बूँद डालने पर वह सारे जल के ऊपर फैलकर उसे ढक लेती है, उसी प्रकार अर्थानुसन्धानपूर्वक किया हुआ थोड़े–से भी

नामजप से पाप का नाश होकर दिव्य शान्ति प्राप्त होती है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

'कल्याण' वर्ष ५२, अंक ११,
पृ० ४३५–४३६ से साभार

Gita Harmonises the Different Paths of Dharma

Prof. Y. C. Simhadri
Vice Chancellor
Banaras Hindu University

I welcome you all to the first Gita Lecture in the academic session 2000 -2001. You are all aware that the Gita Samiti, Banaras Hindu University organises Lectures/ discourses on GITA on every Sunday throughout the session. We are inaugurating the Gita Lecture series for this session today. I would like to draw your attention to some aspects that have specially been dealt in Gita.

Indian philosophy has a long tradition behind it. Yoga, Jnana and Bhakti had their strong adherents. They all have quarreled amongst themselves, each claiming superiority for their own chosen path. No one ever tried to seek for reconciliation among these different paths. It was the author of the Gita who for the first time tried to harmonise these. He took the best from what all the sects then existing had to offer and threaded them in the GITA. It is this point where lies the originality of the Gita. It distinguishes itself from all preceding scriptures.

The next important thing about Gita is ***nishkam karma*** (work without desire or attachment). People now a days understand what is meant by this in various ways. Some say, what is implied by being

unattached is to become purposeless. According to me, if that were its real meaning then, heartless brutes and the walls would be the best exponents of the performance of ***nishkam karma***. As I understand Gita, The true nishkam karmi (performer of work without desire) is neither to be like a brute nor to be inert, nor heartless. He is not a ***tamasika*** but of pure sattva. His heart is full of love and sympathy that he can embrace the whole world with his love. Thus, to my mind, the reconciliation of the different paths of dharma and work without desire or attachment - these are the two special characteristics of the Gita.

There are two innate qualities of man: ***Sattva*** and ***Tamas***. These have opposite character. The nature of a man of sattva guna is that he is equally calm in all situations of life - whether it be prosperity or adversity. Tamoguna has a one very special feature, it loves very much to array itself in the garb of the sattva. For example, it is seen, sometimes under the guise of *daya* (pity). This very pity had undertaken Arjuna in the battlefield of Kurukshetra. the Lord Krishna, in order to remove this delusion, said' "You should not decree a man by calling him a sinner but you should draw his attention to the omnipotent power that is in him. Atma is imperishable which is beyond all evil." He further said' " You should not think yourself a sinner as bodily evils and mental grief has overwhelmed you. You should not yield to unmanliness. There is in the world neither sin nor misery, neither disease nor grief; if there is in this world which can be called sin, it is the fear." Lord Krishna also said that any work which brings out the latent power is virtue and which makes the body and

mind weak is verily sin. Shake off this weakness, this faint heartedness.

This is the essence of Gita. If this message is carried on, then all the diseases, grief, sin and sorrow will vanish from the face of the earth. All these ideas of weakness will be no where. In today's world, this current of the vibration of fear is prevalent every where. This current has to be reversed and opposite vibration has to be flown. A magical transformation would take place.

In short the Gita's massage is, " proclaim it to the whole world with trumpet voice that there is no sin in thee, there is no misery in thee, though art the reservoir of omnipotent power. Arise, awake and manifest the divinity within."

With these words, I inaugurate the GITA LECTURE series for the session 2000-2001. I am sure that the lectures by eminent thinkers and philosophers being arranged will lead to enlightenment.

Inaugural Address
Malaviya Bhawan ,
23 July, 2000

गीताः योग—ज्ञान—भक्ति का समन्वयय

प्रोफेसर के० डी० त्रिपाठी
धर्मागम विभाग
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ही एक ऐसा विश्वविद्यालय है जहाँ गीता पर नियमित प्रवचन होता है। इस विश्वविद्यालय के संस्थापक मालवीय जी महाराज ने स्वयं गीता पर नियमित प्रवचन कर इस परम्परा की नींव डाली। इसका उद्देश्य छात्रों के मानसिक विकास के साथ—साथ उनका आत्मिक विकास करना था। मालवीय जी के बाद आचार्य नरेन्द्र देव, डा० राधाकृष्णनन, जस्टिस भगवती आदि कुलपतियों ने गीता प्रवचन के इस क्रम को बनाये रखा। स्वामी करपात्री जी महाराज जैसे संत श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन करने आते थें। उनका प्रवचन सुनने के लिये बड़ी संख्या में भागवत श्रद्धालु भक्त उपस्थित होते थें।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि गीता महाभारत का अंग है। श्रीकृष्ण ने गीता प्रणयन युद्धक्षेत्र में अर्जुन के मन में उत्पन्न द्विविधा तथा भय को दूर करने के लिये किया। मोह से ग्रस्त राजा धृतराष्ट्र संजय से अपने पुत्रों तथा पाण्डव पुत्रों के युद्ध का हाल जानने की जिज्ञासा करते हैं। अर्जुन युद्धक्षेत्र में अपने पितामह भीष्म, गुरूवर द्रोण तथा अन्य परिवार के सदस्यों को शत्रुपक्ष में खड़े देख द्विविधा में पड़ जाते हैं। वह भयाक्रांत हो गांडीव नीचे रख देते हैं। बांके बिहारी जो अर्जुन के सखा तथा कुरूक्षेत्र के युद्ध में सारथी हैं, अपने

मित्र के मन में उत्पन्न द्विविधा तथा भय को दूर करने के लिये गीता का संदेश देते हैं। अर्जुन को अभय का संदेश तथा निर्भय करने के लिए ही गीतोपदेश दिया गया। वर्तमान समय में मनुष्य के समस्त कष्टों के मूल मे यही भय है। गीता का संदेश है कि आत्मा, पाप/पुण्य, दुख/सुख से परे शक्ति का पुंज है। जागो और अपने सत्व को पहचानो।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तीन प्रकार की वृत्तियाँ हैं, सात्विक, रजस तथा तामसिक। ये सभी प्रभु हैं। मनुष्य को तमस, रजस पर विजय प्राप्त कर सत्व की उन्नति के लिये प्रयास करना चाहिए। ये प्रयास सकाम से निष्काम कर्म के पथ पर चलने से ही प्राप्त हो सकता है। कर्त्तापन के भाव को त्यागना ही वस्तुत: निष्काम कर्म का मार्ग है।

अध्यक्षीय उद्बोधन
गीता प्रवचन उद्घाटन समारोह
मालवीय भवन, २३ जुलाई, २०००

गीता साक्षात प्रभु का विग्रह है

स्वामी प्रसन्नात्मादास
दुर्गाकुंड, वाराणसी

सम्पूर्ण जगत के गुरू श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण का साक्षात् साहित्यावतार श्रीमद्भगवद्गीता है। गीता को ईश्वर का साक्षात् विग्रह मानना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश समस्त प्राणियों के उद्धार के लिए दिया। यह ब्रह्म विद्या है। इसका प्रयोजन धर्म की स्थापना है। प्रभु स्वयं धर्म की याद दिलाते हुए कहते हैं:

''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहम्।। (४/७)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। (४/८)

धर्म के दो लक्षण हैं एक प्रवृत्ति लक्षण दूसरा निवृत्ति लक्षण। गीता शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय प्रवृत्ति लक्षण न होकर निवृत्ति लक्षण है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा:

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान।। (२/४५)

निवृत्ति लक्षण धर्म ज्ञानात्मक धर्म है जिसे ब्रह्म विद्या कहते हैं। यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा है: ऊँ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे– ब्रह्म विद्या, ब्रह्म ज्ञान को कहते हैं, आत्म ज्ञान को कहते हैं। ब्रह्म विद्या अज्ञान की निवृत्ति करता है।

तत्व ज्ञान का स्वभाव है कि जब तत्व ज्ञान प्राप्त होता है तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अर्जुन नतमस्तक हो अवसाद को प्राप्त हो जाते हैं। श्रीकृष्ण गीतोपदेश के द्वारा उसके मोह को समाप्त कर देते हैं। तभी अर्जुन गोविंद के उपदेश के अंत में कहते हैं कि "आपके उपदेश से हे! पार्थसारथी आपने जो ज्ञान दिया है उससे मेरा मोह निवृत हो गया।"

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।। *(११/१)*

जब अज्ञान समाप्त हो जाता है तो जीवंत भी समाप्त हो जाता और जीवंत समाप्त होने के बाद परमानंद की प्राप्ति होती है। प्रभु आनंद रूप हैं। जीवात्मा परमात्मा का अंश होने के कारण आनंद स्वरूप है। विषय सम्पर्क जनित होने के कारण जीव का आनंद दुखदायी हो जाता है। सुख का या आनंद का विनाश होना ही दुख है। उससे तृप्ति का भाव नहीं मिलता। अगर ये आनंद साक्षात् ब्रह्मानंद से होकर आता है तो जीव आनंदसमुद्र में डूब जाता है। उसकी मोक्ष हो जाती है। मोक्ष प्राप्ति ही इसका मुख्य प्रयोजन है।

प्रश्न उठता है कि इस प्रश्न का अधिकारी कौन है? गीता में कहा है कि जो ज़िज्ञासु होकर गीता पढ़ेगा तो उसे तत्वज्ञान प्राप्त हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय के ६४वें श्लोक मे कहा है:

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। *(२/६४)*

इतना कह कर प्रभु ने कर्म का, भक्ति का तथा अन्त में ज्ञान का उपदेश दिया।

मालवीय भवन, ३० जुलाई, २०००

अनुशासन गीता का परम रहस्य

राजगुरू चेल्ला लक्ष्मण शास्त्री
उपाध्यक्ष
काशी विद्वत परिषद

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने वस्तुतः अपने मुखारविंद से गीता रूपी अमृत की वर्षा की है। गीता में प्रभु ने सर्वप्रमुख प्रभु शक्ति को माना है। क्योंकि प्रभु शक्ति के बिना मन्त्र शक्ति नहीं जगती। इसके बगैर उत्साह शक्ति कार्य नहीं कर पाती। प्रभु शक्ति, मन्त्र शक्ति तथा उत्साह शक्ति का समन्वय करना आवश्यक है। गीता में भगवान ने इसका सम्यक् निर्देश दिया है कि जीवन में सुख और शान्ति की कैसे प्राप्ति हो सकती है। संसार के सभी मनुष्य सुख व शान्ति चाहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रभु ने इसका उपाय बताते हुए कहा है:

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।। *(४/१५)*

जिस व्यक्ति का प्रत्येक प्रयास इन्द्रियजनित तृप्ति की कामना से रहित होता है उसे ही पूर्ण ज्ञानी तथा साधु पुरुष कहते हैं। ऐसा कर्त्ता जो पूर्णज्ञान की अग्नी से कर्मफलों को भस्मसात् कर देता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिता।
ज्ञानग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। *(४/१९)*

प्रभु के चरणारविंदो में सदा श्रद्धा भक्ति रहे तभी ये अवस्था आती है। बड़ों पर श्रद्धानवत रहने पर ज्ञान अपने आप ही आने लगता है। ज्ञान सिद्ध हो जाता है। अनुशासन में यम तथा नियम पालन का विशेष महत्व है। अनुशासन गीता का परम रहस्य है। ज्ञान,

भक्ति और योग का सुपात्र कौन? सुपात्र वही हो सकता है जो अनुशासित हो अर्थात श्रद्धानवत हो। गीता ही विश्व की एक मात्र पुस्तक है जिसमें पीढ़ी के अन्तराल को दूर करने का बीज मन्त्र ''श्रद्धारूप' दिया हुआ है। गीता में हरिहर अर्थात् विष्णु और शिव का समन्वय है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। *(१०/२०)*

आदित्यानामहं विष्णुजर्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणमहं शशी।। *(१०/२१)*

किन्तु हे अर्जुन! इस सारे विशद् ज्ञान की आवश्यकता क्या है? मैं तो अपने एक अंश मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ। (श्लोक ४२ अध्याय १०) ज्ञान पंडित ही दे सकते हैं, दान केवल धन सम्पन्न ही कर सकते हैं। लेकिन भक्ति सबके लिये सुलभ है, सबसे सरल मार्ग है, भक्त सभी बन सकते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता के अध्याय ७ में श्रीकृष्ण कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भारतर्षभ।। *(७/१६)*

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्ति र्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।। *(७/१७)*

हमारा भारत देश, हमारी संस्कृति, भक्ति प्रधान है। अध्यात्म प्रधान है। विश्व को शान्ति का संदेश इसी संस्कृति से ही प्राप्त हो सकता है। हमें अपनी संस्कृति को पहचानना तथा शक्ति को जानना चाहिए, हमारे त्याग का अनुसरण करके ही विश्व में सुख तथा शान्ति व्याप्त हो सकती है।

मालवीय भवन, ६ अगस्त, २०००

गीता शास्त्र जीवन की नित्य दृष्टि है

डा० राधेश्याम धर द्विवेदी
तुलनात्मक धर्म—दर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि, "भौतिक प्रकृति तीन गुणों से युक्त है– सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। हे! महाबाहु अर्जुन जब शाश्वत जीव प्रकृति के संसर्ग में आता है, तो वह इनं गुणों से बंध जाता है। जो सतोगुण में स्थित लोग हैं, सुख तथा ज्ञान के भाव से बंध जाते हैं। रजोगुण से असीम आकांक्षाओं तथा तृष्णाओं की उत्पत्ति होती है। इसीसे देहधारी जीवन सकाम कर्मों से बंध जाता है। अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण समस्त देहधारी जीवों का मोह है। इसका प्रतिफल प्रमाद, आलस और नींद है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। *(१६/२१)*

जो व्यक्ति इन तीनों नरक के द्वार से बच पाता है, वह आत्म साक्षात्कार के लिये कल्याणकारी कार्य करते हुए क्रमशः परमगति को प्राप्त होता है।

जब जीव इन तीनों गुणों को लांघने में समर्थ हो जाता है, तो वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा आदि के कष्टों से मुक्त हो जाता है। प्रभु ने अर्जुन से इन तीनों भावों को त्याग कर ईश्वर के शरणागत होने को कहा।

गीताशास्त्र का यदि बौद्धदर्शन के साथ तुलनात्मक विवेचन किया जाये तो इनमें आपततः जो विरोध दृष्टिगत होता है उसका स्वरूप बदल जाता है। गहराई से देखने पर ज्ञात होगा कि गीता और बौद्धदर्शन में समस्वरसा है। गीता शास्त्र ने ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा की तो बौद्धधर्म ने नैतिक समस्या के समाधान के लिये सर्वत्र की अवधारणा प्रस्तुत की।

गीताशास्त्र जीवन की नित्य दृष्टि को प्रस्तुत करता है। काम, क्रोध, लोभ ये तीन मुख्य भाव हैं जो आसुरी सम्पदा की ओर अभिमुख करते हैं। अकाम, अक्रोध और अलोभ दैवी सम्पदा की ओर अभिमुख करते हैं। मुक्ति के लिये हमें अपनी वृत्तियों का साक्षात्कार आवश्यक है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण ने आत्म दृष्टि तथा आत्मीय दृष्टि के अन्तर को स्पष्ट किया। उन्होंने अर्जुन को आत्म दृष्टि का उपदेश दिया, उसे आत्मीय दृष्टि से विरत रहकर निष्काम कर्म योग में प्रवृत्त होने का संदेश दिया।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्सासी च योगी च न निराग्निर्न चाक्रियः।। *(६/१)*

मालवीय भवन, १३, अगस्त, २०००

गीता मात्र प्रवचन का विषय नहीं वरन् जीने की कला है

दीनानाथ झुनझुनवाला
अध्यक्ष
झुनझुनवाला ऑयल मिल्स,
वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता के मुख्य सिद्धांत अभ्यास और वैराग्य हैं। अभ्यास का अर्थ है संकल्पित कार्यों का निरंतर निष्पादन। वैराग्य का अर्थ है आवश्यकतानुसार वस्तुओं की उचित मात्रा में सेवन करना। गीता के सोलहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो उचित आचरण नहीं करते उनमें सत्य और पवित्रता नहीं रहती। ऐसे जीव आत्मज्ञान के नष्ट होने से बुद्धिहीन हो जाते हैं। ऐसे जीव अनुपयोगी एवं भयावह कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। गीता के १६वें अध्याय के श्लोक १० व श्लोक १२ में श्रीगोविंद ने अर्जुन से कहा—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।। *(१६/१०)*

आशापाशशतैर्बद्धाः काम क्रोध परायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान।। *(१६/१२)*

काम, क्रोध, लोभ नरक के तीन द्वार हैं। प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि इन्हें त्याग दे। त्याग करने में ही वैराग्य का तत्व छिपा है। त्याग का अर्थ कर्मों का त्याग नहीं है। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि कर्म से विमुख होकर कोई कर्मफल से न तो छुटकारा पा

सकता है और न स़न्यास से सिद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार कर्म करता है। अत: कोई भी एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। कर्म के बिना शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता। अत: जीव को कर्म करने का अधिकार है। परन्तु यह ध्यान रहे कि जीव न तो कर्म का कारण है और न उसके फल का स्वामी। अत: कर्म में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।

कर्मण्येवाधिकरस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि। *(२/४७)*

समस्त आसक्ति को त्याग भावना से कर्म करना चाहिए। इसे ही समता योग कहते हैं। गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्म है। प्रभु निरंतर कर्म करता है और निमिषमात्र के लिये भी नहीं रूकता। जीव को भी निरंतर कर्म करना होता है जैसे श्वास–प्रश्वास क्रिया। मन को जीव जब शास्त्र सम्मत कर्म में लगाता है तो क्रिया का रूप कर्म हो जाता है। श्रीकृष्ण सभी कर्म पूरी निष्ठा तथा मन–क्रम, वचन के योग से करते हैं जैसे गाय चराना, बंसी बजाना, रास रचाना, भक्तों का उद्धार, पार्थसारथी या राजा का धर्म और धर्म की संस्थापना आदि। उनके लिये कोई काम छोटा या बड़ा नहीं हैं सभी में समभाव है, पूर्ण निष्ठा है। यही कर्म का कृष्ण तत्व है। मनुष्य को १०० प्रतिशत कर्म करना चाहिए। कर्म को टालना, उपेक्षा करना, हीन समझना आदि नहीं करना चाहिए। कर्म करोगे तो फल तो मिलेगा ही।

गीता का कर्मयोग अध्यात्मिक होने के साथ–साथ व्यावहारिक है। जैसा संदेश भी है ––कर्म सु कौशलम–''

कर्म के विषय में संशय नहीं होना चाहिए। मतिभ्रम संशय का कारण है जो गलत निर्णय तथा असमय कर्म की ओर प्रवृत्त करता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। *(४/४०)*

महाभारत में कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन के मन में उत्पन्न द्विविधा तथा संशय क़ो दूर करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया। गीता के प्रथम अध्याय के श्लोक ४७ में लिखा है:

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।। *(१/४७)*

श्रीकृष्ण जो साक्षात् भगवान हैं अपने भक्त अर्जुन पर अहैतुकी कृपावश सेवा में रत हैं। उनहोंने अर्जुन के मन के रथ का संचालन अपने गीतोपदेश के माध्यम से किया और संशय तथा द्विविधा के कलुष को धोकर अपने भक्त पर स्नेह दिखाया। भक्तों पर कृपा करना, उनका कल्याण करना ही गीता के उपदेश का प्रयोजन है।

मालवीय भवन, २० अगस्त, २०००

शरणागति ही गीता का लक्ष्य

डा० एन० आर० श्रीनिवासन
संकाय पुमुख
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शरणागति ही गीता का परम लक्ष्य है। कर्म, ज्ञान और भक्ति अध्यात्म के क्रमिक सोपान हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में १८ अध्याय हैं, जिनमें से छः अध्यायों में कर्म की प्रधानता है। श्रीकृष्ण ने विषाद में पड़े अर्जुन से कहा कि कर्म के बिना कोई भी जीव नहीं रहा सकता। कर्म की दिव्य प्रकृति को ठीक ठीक जानना आवश्यक है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। *(४/१६)*

ये कर्म ही व्यक्ति को इस जगत से बांधते या मुक्त कराते हैं। कृष्णभाव से कर्म करने से मनुष्य कर्म के नियम बंधन से मुक्त हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग, दिव्यज्ञान तथा कृष्णभावना भावित कर्म की विशद् व्याख्या की गई है।

छः अध्यायों में ज्ञानयोग की प्रधानता है। ज्ञान के महत्व को विस्तार से अर्जुन को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष दिव्य ज्ञान की अग्नि से शुद्ध होकर बाह्यतः सारे कर्म करता है। अष्टांग योग से मन तथा समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है। प्रभु के स्वरूप का, ऐश्वर्य का ज्ञान पाकर उसे प्रभु के विराट रूप का दर्शन होता है। वह प्रभु के प्रति श्रद्धावान हो समर्पण भाव से भर जाता है।

गीता के छः अध्यायों में भक्तियोग की प्रधानता है। गीता के बारहवें अध्याय में श्रीगोविंद कहते हैं कि श्रीकृष्ण के शुद्ध प्रेम को प्राप्त करने का सबसे सुगम एवं सर्वोच्च्य् साधन भक्तियोग है। मुकुंद माधव गोपीराज श्रीकृष्ण अपने भक्तों की रक्षा के लिये तथा धर्म की संस्थापना के लिये बार–बार पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। जो व्यक्ति जिस भाव से उनकी शरण में जाता है वह उसी भाव से उसका कल्याण करते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। *(४/११)*

शरण में आये अविवेकी अर्जुन को उपदेश देकर श्रीकृष्ण ने शरणागत रक्षा का भाव व्यक्त किया। गीता का प्रवर्तन धर्म–अधर्म के लिये हुआ इसलिये इसे शास्त्र की श्रेणी में रखा जाता है।

मालवीय भवन, २७ अगस्त, २०००

गीता एवं मानस स्वास्थ्य

प्रो॰ रामहर्ष सिंह
मानित निदेशक मालवीय भवन,
काशी हिन्दू विश्वविद्यलय, वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय मनीषा का प्रतिपादक शीर्ष ग्रन्थ है। गीता योगशास्त्र है, इसीलिए भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में उसे योगशास्त्र कहा गया है और प्रत्येक अध्याय का नाम योगान्त रखा गया है– 'ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे उपनिषत्सु अर्जुनविषाद योग' इत्यादि। इस प्रकार गीताशास्त्र ब्रह्मविद्या है और प्रमुख उपनिषद् है और भवनाम श्रीकृष्ण हैं, इसके प्रणेता 'योगेश्वर'। अतः हम सब सामान्यजनों के लिए गीता व्याख्या का विषय नहीं है, अपितु यह धारण करने की वस्तु है। गीता हमें सहज, सरल तथा अनासक्त बनने तथा स्वार्थ से परार्थ एवं परार्थ से परमार्थ की ओर अग्रसर होने का संदेश देती है। यही है व्याष्टि–समाष्टि का एकाकार रूप निर्वाण। यह भाव ही योग है और यही है भारतीय अध्यात्म का मूल तत्व। यही भारतीय मनीषा एवं सर्वज्ञान स्रोत रूप श्रृति–स्मृति–आचार–आत्म तुष्ट्यादि का निचोड़ एवं मर्म। कर्म, उपासना व ज्ञान रूप प्राच्यज्ञान का त्रिवर्गवाद ही गीता की विषय वस्तु है।

प्राच्य परम्परा में मानव जीवन के स्वास्थ्य और कल्याण के लिए मन, वाणी तथा काय (शरीर) को प्रमुख घटक स्वीकार किया गया है। जीवन के सारे क्रियाकलाप एवं स्वास्थ्य इन्हीं पर निर्भर हैं। इसीलिए इन तीन घटक भावों की शुद्धि हेतु योगशास्त्र, व्याकरण, महाभाष्य तथा

आयुर्वेद नामक विद्याओं का विकास किया गया। "पातञ्जल महाभाष्य चरकप्रतिसंस्कृतै:; मनोवाक्काय दोषाणां हर्त्रे अहिपतये नम:।।"

सिद्धान्तत: स्वास्थ्य, योग एवं मोक्ष वस्तुत: एकीकृत एवं सहसंवद्ध भाव माने गये हैं। आयुर्वेदीय चिन्तन में स्वास्थ्य (स्व+स्थ) का चरमोत्कर्ष ही मोक्ष है। चिकित्सीय दृष्टि से 'स्वास्थ्य' शरीर, सत्व तथा आत्मा की 'समत्व' पूर्वक सुखावह अवस्था है। वस्तुत: प्राच्य स्वास्थ्य विज्ञान 'समत्व' के सिद्धान्त पर आधारित है। योगशास्त्र में मानसिक साम्य को महत्व देते हुए 'पूर्ण स्वास्थ्य' की अवधारणा उपस्थित की गयी है यदा—

समदोष: समाग्निश्च समधातु मलक्रिय:।
प्रसन्नोतेन्द्रिय मना: स्वस्थ इत्यभिधीयते।। *(सुश्रुत सूत्र १५)*

रोगस्तु दोष वैषम्यं; दोषसामम्य अरोगता। *(चरक संहिता)*

उत्तम मानस स्वास्थ्य के लिए नानविध मनोविकारों से मुक्ति आवश्यक है। व्यावहारिक दृष्टि से 'उद्वेग' एवं अवसाद (विषाद)ये दो प्रमुख मानस विकार हैं। गीता में इन दोनों विकारावस्थाओं का सुन्दर निरूपण किया गया है। महाभारत के दो प्रमुख पात्र अर्जुन व दुर्योधन इन्हीं विकारों से ग्रस्त हैं। दुर्योधन चित्तोद्वेग का जन्मजात रोगी है जबकि अर्जुन को युद्धस्थल पर ही आवस्थिक चित्तावसाद हो गया है। अर्जुन युद्धस्थल पर प्रतिद्वन्द्वी स्वजनों को देखकर पहले उद्वेग से पीड़ित होते हैं, फिर उन्हें विषाद होता है और फिर घोर चित्तावसाद को प्राप्त हो जाते हैं जिन्हें वे अपनी व्यथा सुनाते हैं जो चित्तासवासद के लक्षणों का अत्यन्त सुन्दर निरूपण है—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यिति।
वेपयुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।। *(१/२९)*

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। *(१/३०)*

ऐसे घोर मनोरोगी अर्जुन को योगेश्वर स्वरूप मनोचिकित्सक प्राप्त होते हैं जो इन्हें रोग मुक्त करने में सफल होते हैं। दूसरी ओर दुर्योधन उपयुक्त चिकित्सा के अभाव में अन्त तक चित्तोद्वेग से निजात नहीं पाते क्योंकि उन्हें योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसे मनोचिकित्सक प्राप्त नहीं हो पाते और दुर्भाग्य से दुर्योधन जीवन पर्यन्त उद्विग्न ही रह जाते हैं। उनकी उद्विग्नता का ही परिणाम है महाभारत जिसमें व्यक्ति अपना तो विनाश करता ही है संवद्ध समाज का भी नाश करता है। गीता का प्रथम अध्याय इसी प्रक्रिया का निरूपण है। इस अध्याय में भगवान स्वयं बिल्कुल नहीं बोलते हैं; वे केवल देखते व सुनते हैं। अर्जुन के उद्वेग व अवसाद का दृश्य और फिर आगे करते हैं विषाद की चिकित्सा क्रमबद्ध ढंग से।

गीता मानस भावों की उत्कृष्टता तथा योगरुढ़ एवं स्थित प्रज्ञ का अद्वितीय प्रतिपादन करती है। गीता के 'स्थित प्रज्ञ', पातञ्जल के 'ऋतम्भराप्रज्ञा' तथा चरक संहिता की 'सत्यबुद्धि' की अवधारणाओं में अद्भुत साम्यता है। चरक संहिता के पुरुष विचय शरीर अध्याय के खण्ड व ब्रह्माण्ड के एकाकार के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए आचार्य चरक कहते हैं– "पुरुषोऽयं लोक सम्भित, यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भाव विशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके।" *चरक शा० ५:२* और फिर आचार्य प्रवृत्ति पर निवृत्ति मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं–

"निवृत्तिपरपवर्गस्तत्परं तत् प्रशान्तं तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः।" चरक *शा०* निम्नलिखित चरकोक्त आख्यान गीता के स्थित प्रज्ञ दर्शन के समान ही एक उच्च मनोअवस्था की अवधारणा है—

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्याबुद्धिः प्रवर्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः।।
सर्वभावस्वभावज्ञो यदा भवति निःस्पृहः।
योगं यदा साध्यते सांख्यः सम्पद्यते यया।
यया नोपैत्यहङ्करं नोपास्ते कारणं यदा।।
याति ब्रह्म यदा नित्यमजरः शान्तमक्षरम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता।। *(चरक शा० ५:२५—२६)*

मालवीय भवन, ३ सितम्बर, २०००

गीता आत्म साक्षात्कार का शास्त्र

स्वामी शिवाचिदानंद
डिवाइन लाईफ सोसाइटी, हरिद्वार

श्रीमद्भगवद्गीता कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का समन्वय है। इनका एक साथ अभ्यास करना ही साधना है। गुरु शिष्य परम्परा में श्रीकृष्ण ने अपने सखा–शिष्य अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। गुरु ने जब शिष्य को दीक्षा दी तो कहा– 'तत् त्वमसि' अर्थात् तुम भी वही हो जो मैं हूँ। गीता के एक से सात अध्याय में प्रभु ने इसी बीज मन्त्र के प्रथम भाग 'त्वम्' को तथा सात से बारह अध्याय तक 'तत्' और बारह से अट्ठारह अध्याय तक 'असि' को समझाया है। 'त्वम्' में कर्मयोग, 'तत्' में भक्तियोग और 'असि' में ज्ञानयोग का संदेश है। इस समस्त योग समन्वय का उद्देश्य है कि जीव में उपस्थित आत्मन् के अंश, आत्मा को जानना। यही आत्मन् सभी के अन्तर में चैतन्य सत्ता के रूप में बैठा हुआ है, वही भगवान है, वही ईश्वर है। सभी जीवों में ईश्वर के रूप का दर्शन ही ईश्वर का साक्षात् दर्शन करना है। जीव इसी प्रभु को प्राप्त करने का प्रयास करता है। सर्वत्र व्याप्त इस ईश्वर को प्राप्त करने का साधन अपनी जीवात्मा है। स्वयं को जानना, पहचानना है। आधुनिक शिक्षा के द्वारा जो ज्ञान मिल रहा है उससे प्रकृति, विज्ञान की विभिन्न विधाओं का ज्ञान तो हो जाता है लेकिन आत्मज्ञान नहीं हो पाता। वहाँ अंधकार ही अंधकार है। अंधकार से अज्ञान की उत्पत्ति होती है। अज्ञान के कारण ही लोभ, मोह, अंहकार आदि नाना विकार पैदा होते हैं। इन विकारों के आवरण से प्रत्येक चित्त में विराजमान आत्मन्, भगवद् सत्ता दिखाई नहीं देती। मस्तिष्क,

शरीर आदि भिन्न–भिन्न होने पर भी सबमें आत्मा एक ही है क्योंकि वह उसी परमसत्ता का अंश है:

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। *(१०/२०)*

इसलिये प्रत्येक मनुष्य सम्मान का अधिकारी है।

आत्मा एक ईश्वर का अंश है। अतः वो धर्म व जाति के बंधन से परे है। आत्मसाक्षात्कार से आत्मा का ज्ञान होता है। प्रत्येक जीवात्मा उस महान परमात्मा के अंश के रूप में उसी परमात्मा की वंशज है। उसकी उत्पत्ति का कारण, कारक वही है और उसी में पुनः लीन होना उसका लक्ष्य है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा था कि तुम स्वयं को भौतिक संसार का भाग समझते हो, वस्तुतः तुम सर्वात्मा के अंश हो। इन्द्रियों के वशीभूत होकर स्वयं को इस नश्वर संसार का भाग समझ कर दुखी हो रहे हो।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।। *(२/१२)*

– – – – – – – – – – – – – –

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।। *(४/५)*

जब जीव को आत्मसाक्षात्कार होता है तो उसे आध्यात्मबोध होता है। सर्वात्म भाव जाग्रत होता है, ईश्वर से अभिन्नता का बोध होने पर जीव अध्यात्मसत्ता पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। इस अधिकार के आने पर परिपूर्णता का भाव तथा कल्याण भाव आता है। जीव में करुणा, दया आदि गुणों का उदय होता है। जीव स्वयं को कर्त्ता न मानकर प्रभु को कर्त्ता और स्वयं को निमित्त मात्र जानता है। जीव

कहता है: तेरी मर्ज़ी से हो सब काज, राम सिया राम सिया राम।
गीता में श्रीकृष्ण भावना को स्पष्ट करते हुए प्रभु कहते हैं:

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ (२/५१)

मालवीय भवन, १३ सितम्बर, २०००

धर्म देश की सार्वभौम प्रतिष्ठा का शब्द

डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ज्ञान की दो विधाएं हैं– परा विद्या तथा अपरा विद्या। गीता प्रवचन का एक उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को परा विद्या में प्रवृत होना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को समझाना चाहिए कि परा विद्या क्या है? परा विद्या अनुशासन का मूल मंत्र है। परा विद्या का अर्थ यह समझना है कि आप अकेले नहीं हैं, कोई शक्ति है जो आपको देख रही है। आपकी गतिविधियों को देख रही है। एकान्त में नियंत्रण नहीं होता उसका अनुशासन तो भीतर से आता है, बाहर से नहीं। भीतर से अनुशासन देने वाली वही शक्ति है जो सर्वव्यापक है और सबको देख रही है। यही शक्ति ईश्वर है। ईश्वर का अर्थ है समर्थ अर्थात जो सब कुछ कर सके जो सर्वव्यापी है। ईश्वर के ध्यान से कुमार्ग में प्रवृति नहीं होगी। हमारी कलाओं का विकास होगा। संसार तो कला है। संसार जितने शब्द हैं कल धातु से निकाल सकते हैं। काल शब्द भी कल धातु से बना है। ये जो कुछ है इसकी भी ठीक से व्यवस्थित आवप्ति, प्राप्ति, उपलब्धि तभी होगी जब आप अपने को सच्चाई पर निर्भर रखेंगे।

इस देश में सौंदर्य की, कला की तथा कविता की व्यवस्था है। व्यवस्था को व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने वाला शास्त्र नहीं बना। कविता शब्द नहीं है, क्यों? शब्द के बिना कविता व्यक्त नहीं होती

यह हमारी विवशता है। किन्तु शब्द को कविता नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कविता बची रहती है और शब्द अनुवाद में बदल जाते हैं। शब्द परिवर्तन भी वाक्य को बदल देता है। किसी भी बात को तब तक स्वीकार मत करिये जब तक बात तर्क संगत रूप में न बैठ जाये। वक्ता चाहे कोई हो, केवल दो स्थानों को छोड़ कर, एक तो योग शास्त्र और दूसरा वेद शास्त्र। योगशास्त्र का अभ्यास करके पालन किया जाता है। धर्म को वो जानता है जो तर्क के साथ उसका विचार करता है। वेद का परायण करना चाहिये। समाचार, सूचनायें एकत्र करना अध्ययन नहीं है। अध्ययन के लिये स्वाध्याय का आधार चाहिए। स्वाध्याय क्या है? सत् साहित्य का अध्ययन ही स्वाध्याय है।

धर्म की ग्रह दशा आजकल बड़ी खराब है। धर्म कहा नहीं कि सब नाक–भौंह सिकोड़ने लगते हैं। तो बुद्ध का नाम क्यों लेते हो? उन्होंने जो कुछ भी कहा उसे धम्मपदं ही तो कहा गया। धम्म माने धर्म। महावीर ने क्या किया? उन्होंने भी तो धर्म का ही प्रवर्तन किया। धर्म हमारे देश की सार्वभौम प्रतिष्ठा का शब्द था उसे आज की इस राजनीति के युग में बदनाम कर अपनी नासमझी को शासन दे दिया। धर्म का अर्थ क्या है? नियमों पर आश्रित यम ही धर्म है। योगशास्त्र व गीता में धर्म की यही परिभाषाएं हैं। नियम क्या है? पवित्रता, शुद्धता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय नियम हैं। यम क्या है? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। यम ही राजा है। उसका नाम धर्मराज है। यम के निर्वाह से ही सह अस्तित्व संभव है।

ईश्वर का ध्यान विवादास्पद वस्तु है। ईश्वर है या नहीं ऐसा प्रश्न हो सकता है। मीमांसा शास्त्र ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानता। मीमांसा यज्ञ कराने वाला शास्त्र है। उसका यज्ञ कर्म ही ईश्वर है।

क्योंकि यज्ञ परलोक में उत्तम गति देने वाला है। इस लोक में भी स्वराज्य स्थापित करने वाला है। हमारे यहाँ यह महत्व की बात नहीं है कि ईश्वर है या नहीं लेकिन वेद को न मानना अवश्य ही महत्व की बात है। अगर हमारा कोई आधार नहीं रहा तो हमारा आचरण निराधार होगा। हम अवश्य ही पथभ्रष्ट होंगे।

मालवीय भवन, १७ सितम्बर, २०००

भक्ति अति मूल्यवान

पं० बाबूलाल मिश्र
मानित प्रबंधक,
श्री विश्वनाथ मंदिर,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीकृष्ण का युद्धक्षेत्र में श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश अर्जुन को कर्म करने के लिये दिया गया था। प्रारंभ के छः अध्यायों में कर्म का निरुपण किया गया। वैष्णव आचार्यों का कहना है कि भक्ति अति मूल्यवान है। भक्तिको प्रभु ने ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का सम्फुट अर्थात ढ़क्कन लगा कर बीच के अध्यायों ७–१२ अध्याय तक ढ़क दिया। भक्ति अत्यंत गोपनीय तत्व है। जैसे मोती सीपी में सुरक्षित रहता है, उसमें गुप्त रूप से रहता है, उसी तरह भक्ति रूपी मोती भी गीता के कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के सम्फुट में गोपनीय रूप से अवस्थित है।

प्रथम छः अध्यायों में जीवात्मा को अभौतिक आत्मा के रूप में वर्णित किया गया है। ये जीवात्मा विभिन्न प्रकार के योगों द्वारा आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त हो सकता है। छठे अध्याय के अंत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मन को श्रीकृष्ण पर एकाग्र करना ही सर्वोच्च योग है। प्रभु पर चित्त एकाग्र करने से मनुष्य परमसत्य को पूर्णतया जान सकता है। छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार ही मनुष्य को योग का अभ्यास करना चाहिए–

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:।। *(६/४७)*

इस ध्यान की एकाग्रता को नवधा भक्ति के द्वारा संभव बनाया जाता है। नवधा भक्ति में श्रवण अग्रणी एवम् सबसे महत्वपूर्ण है। अर्थात भगवान अर्जुन से कहते हैं कि "तच्छृणु"– अर्थात मुझसे सुनो। जिसे प्रभु से सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है वह पूर्णतया कृष्णभावना भावित हो जाता है। मनुष्य को साधना साक्षात् प्रभु से या प्रभु के शुद्ध भक्त से सीखनी चाहिए। शुद्ध भक्तों के मुखों से सुनकर ही भक्ति या प्रभुतत्व को जाना जा सकता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। *(७/२)*

प्रभु का अवतार मनुष्यों को शिक्षा देने तथा भक्तों का उद्धार करने के लिये ही होता हैं भगवान अपनी शरण में आये शरणागत भक्तों की रक्षा कर उन्हे अभय प्रदान कर देते हैं। इनकी सर्वविध रक्षा करते हैं। "मम पण शरणागत भयहारी" जैसा कि रामचरितमानस में भी श्रीराम ने कहा है।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य भक्ति है। भक्ति जो सर्वग्राही है। भगवान की भक्ति का अमृत वास्तविक अमृत से ज्यादा सरस है।

मालवीय भवन, २४ सितम्बर २०००

गीता— जीवन जीने की कला

डा० प्रेम नारायण सोमानी
भूतपूर्व निदेशक
चिकित्सा विज्ञान संस्थान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीता धर्म ग्रन्थों का सार है। धर्म हमें जीवन जीने की कला सिखाती है। गीता मनुष्यों के उच्च आदर्शों को प्रस्थापित करती है और उसे प्राप्त करने का मार्ग बताती है। गीता पर न जाने कितने भाष्य है— जिसने जिस दृष्टि से देखा उसी में उलझ गया। हमारे आधुनिक राजनीतिज्ञों ने उससे प्रेरणा प्राप्त की और स्वतंत्रता प्राप्ति में अग्रणी बने। तिलक महाराज ने कर्मयोग, गांधी ने अनासक्त योग, महर्षि अरविन्द व विनोबा ने भक्ति योग की पुस्तक गीता को माना है। मेरी अल्पबुद्धि व ज्ञान में वह मन को वश में करने की विधा बताती है। कैसे हम, समस्यायों से अभिमुख हो और उनसे पलायन करने के लिए मन में विचित्र तर्क न जुटाये।

गीता महाभारत का एक अंग है। हमारे धर्म ग्रन्थों का साहित्य बड़ा उच्चकोटि का है जहाँ कथा कहानी में प्रतीकों के माध्यम से बड़ी से बड़ी समस्यायों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। कहीं उपदेश नहीं। हम बुद्धि के अनुसार जैसे निष्कर्ष निकालना चाहें, निकालें। महाभारत हम सबके जीवन में गुजरने वाली हर प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। गीता संशय युक्त मनुष्य जो तरह—तरह के तर्कों के द्वारा अपना संशय व्यक्त करता है उसे संशय को पूरा करने का मार्ग बताती है। अर्जुन युद्धभूमि में संशय से ग्रस्त है— द्विविधा में

है। लड़ाई की विभीषिका और उससे उत्पन्न होने वाली समस्यायें उसे युद्ध से रोकती हैं। उसका मन कायरता एवं पलायन की ही राह चलने को कहता है। उनको छिपाने के लिये वह कृष्ण से तर्क करता है– 'मैं स्वजन, संबंधियों को मारकर राज्य सुख नहीं चाहता। कुल के नाश होने पर कुलधर्म नष्ट होंगे, वर्णसंकर उत्पन्न होंगे, पितरों को जल देने वाला कोई नहीं रहेगा, पाप बढ़ेंगे और सत्धर्म का नाश हो जायेगा। केवल राज्य लोभ के कारण हम यह जघन्य पाप करने को तत्पर हैं। हमारे जीवन में भी ऐसी ही मोह, अज्ञान जनित द्विविधायें उत्पन्न होती रहती हैं और हम बहादुर दिखने के लिये उन्हें तर्क जाल में छिपा कर उनसे पलायन करते हैं।

कृष्ण अर्जुन को भिन्न–भिन्न प्रकार से समझाते हैं परन्तु अर्जुन को विश्वास नहीं होता। वह कुछ न कुछ नया तर्क उत्पन्न कर देता है। युद्ध में इतनी हत्यायें होंगी इसके लिये कृष्ण उसे अनित्यता का बोध कराते हैं। हर देहधारी बाल्य से युवा और युवा से वृद्धावस्था और तत्पश्चात मृत्यु को प्राप्त होता है। जिसकी मृत्यु हुयी है उसका जन्म भी निश्चित है। इसलिये मरने और मारने से क्या भय? इसको इस प्रकार समझे कि मुझे अमुक कार्य करना है– यह निश्चयात्मक है, करुँगा– यह संकल्प है और परिपूर्ण कर लिया है। उसका यह फल है। फल को कितने ही वाह्य कारण पलट सकते हैं। क्षत्रिय स्वभाव तुझसे युद्ध करायेगा ही। यदि युद्ध से भागेगा तो तेरी अपकीर्ति होगी जो तेरे मरने से बढ़ कर होगी। इसलिये तू यह कर।

फिर भी कृष्ण को लगा कि वह उसका संशय दूर नहीं कर सके। उन्होंने उसे बताया कि निश्चयात्मक बुद्धि वाला हो चित्त को समता में स्थापित कर। समताचित्त वाला मनुष्य पाप से ऊपर उठ जाता है और कर्मों के छल उसे बाँधते नहीं है। ऐसा समत्व वे स्थापित मनुष्य

अपनी सारी इन्द्रियों को सारी इन्द्रियों के विषयों से हटा लेता है जैसे कछुआ अपने सब अंगो को समेट लेता है। मन से उत्पन्न होने वाली सारी कामनाओं को पूर्ण रूपेण त्याग देता है– चाहे वह यश की या चाहे मोक्ष की इच्छा हो। उसकी सुख में आसक्ति नहीं रहती, न दुख में वह विचलित होता हैं। शुभ, अशुभ में न हर्षित होता है न खेद करता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, भय, अहंकार, मोह से रहित होता है। ऐसे मनुष्य के सारे संशय समाप्त हो जाते हैं। यदि तेरे संशय समाप्त हो गये हों तो युद्ध कर।

अर्जुन ने फिर एक तर्क निकाला– यदि वैराग्य श्रेष्ठ हो आप कर्म से क्यों लगते हैं? कृष्ण फिर समझाते हैं कि कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना नहीं रह सकता है। उसकी प्रकृति उससे कर्म करा ही लेगी। फर्क इतना ही है कि अज्ञानी आसक्त होकर कर्म करता है और ज्ञानी आसक्ति रहित होकर लोक कल्याण की इच्छा से कर्म करते हैं। कर्म करने के लिये कर्ता को दृढ़ संकल्प के साथ विविध साधनों से चेष्टारत रहकर लख्य को प्राप्त करने की ओर बढ़ना चाहिये। फिर भी फल (लक्ष्य प्राप्त) दैव आधिन है– यह दैव आज के Unknown Forces हैं जो उसे प्रमाणित करते हैं। इसीलिये फल की इच्छा त्याग कर कर्म करना चाहिए। फल जो आये सो आये। उससे वांछित फल न पाने पर मन दुखी नहीं होता और प्रयत्न दूने उत्साह से करने लगता है। यदि फल का लक्ष्य नही होगा तो भटक जायेगा और यदि इनके विषय में ही सोचता रहेगा तो चेष्टा से विरत हो जाने की संभावना बनी रहती है। चित्त में समता भाव प्राप्त करने के लिये उन्होंने योग साधने को बताया। योग वही साध सकता है जो अतियो से बचे एवं मध्यम मार्ग पर चले युक्ताहार विहार यानि यथा योग्य आहार–विहार, यथा योग्य चेष्टा एवं यथा योग्य सोना और जागना। योग साधने से चित्त विषयों से आराम हो जाता है। योग साधने के लिये सुख आसन पर बैढ कर,

शरीर, गर्दन और सिर को सीधा और अचल रख कर नेत्र बन्द कर भ्रू मध्य या नासाग्र पर ध्यान करें। धीरे–धीरे अभ्यास से चित्त विचलित नहीं होता है। अज्ञानी (मूढ़) इसे नहीं समझ पाते और न इसके लिये चेष्टा करते हैं।

इतना सब समझाने पर भी अर्जुन को विश्वास नहीं हुआ तो कृष्ण ने प्रकृति का विराट रूप उसे दिखाया। अर्जुन ने देखा कि सम्पूर्ण देव, सारे प्राणी, ब्रह्मा, महादेव, ऋषी, दिव्य सर्प आदि सभी काल के ग्रास बनते जा रहे हैं। युद्ध में मौजूद सारे योद्धा भी काल के मुख में समा रहे हैं। कृष्ण ने बताया कि अर्जुन तू युद्ध करे या न करे सारे योद्धा मरेंगे ही। अतएव युद्ध कर्म के फल के भय को त्याग कर तू युद्ध कर।

कृष्ण ने अर्जुन को बताया कि सारी प्रकृति कार्य–कारण से बंधी हुयी है (Dependent origiation) ऐसा–ऐसा होगा तो यह परिणाम आयेंगे ही यदि ऐसा–ऐसा नहीं होगा तो यह परिणाम नहीं आयेंगे। हर मनुष्य अपने गुण–स्वभाव के अनुसार ही कर्म करता है। हर मनुष्य में तम, रज एवं सत्व गुण होते हैं। जब जैसा गुण प्रधानता लेता है तब मनुष्य का आचरण बन जाता है। तमोगुण से प्रमाद, आलस्य, निद्रा एवं अज्ञान उत्पन्न होते हैं। रजोगुण से कामनायें और उनके प्रति आसक्ति सतो गुण से चित्त निर्मल होता है और सत्य एवं ज्ञान का प्रकाश अन्तर में जागता है, सुख का अनुभव होता है। अतएव मनुष्य को तमो एवं रजो गुणों का अतिक्रमण कर सतो गुणीधारी बनने का प्रयास करना चाहिये। ऐसा बनने के लिये आत्म संयम, स्वाध्याय, सरलता, सत्य निष्ठा, यम–नियमों का पालन, जीवों पर दया, क्षमा, त्याग एवं राग–द्वेष से रहित होना आवश्यक है। यही सद्गुण मनुष्य की दैवी सम्पत्ति है। मनुष्य के भीतर इन त्रिविध गुणों के उत्पन्न होने में भोजन

एवं वातावरण का विशेश प्रभाव रहता है। अधपका, रस रहित, दुर्गन्ध युक्त, बासी, जूढ़ा भोजन मानसिक वृत्तियों को बढ़ाता है। कड़वा, खट्टा, नमकीन, दाहं उत्पन्न करने वाला भोजन रजोगुण का कारक बनता है। रसयुक्त, चिकना, प्रिय लगने वाला शाकाहारी भोजन सात्विक गुणों को प्रकट करता है। इसी प्रकार वातावरण व संगति भी त्रिगुणों का कारक होती है। अकर्मण्य, कामचोर लोगों के बीच रहेंगे तो वैसा ही बनेंगे। दुष्टों और चोरों के साथ रहेंगे तो वैसी ही आदतें आ जायेंगी। इसीलिये कहा गया है "काजल की कोढ़री में कैसे ही सयानो जाये, एक लकीर काजल की लागि है पै लागि है"। उत्तेजक और पाँच सितारा वातावरण में धनी लोगों के बीच रहेंगे तो कामनायें जागृत होंगी ही। यदि सद्बुद्धि वाले संतपुरुषों का सतसंग होगा तो धर्म परंपरा जागेगी ही। सत साहित्य बढ़ेंगे तो उसका प्रभाव अश्लील साहित्य या फिल्मों को देखने से भिन्न होगा ही। इसी प्रकार दान, तप एवं त्याग की सात्विक रजोगुण एवं तपो गुण होते हैं। गीता का ज्ञान श्रद्धारहित, इच्छारहित को प्राप्त नहीं हो सकता। इसे प्राप्त कर जो आचरण में उतारे वही गीता के ज्ञान सुनने के अधिकारी हैं। यह ज्ञान मनुष्य को श्रेष्ठ, उत्कृष्ट एवं आदर्श पुरुष बनाने के लिये ही है। कैसे कठिन से कठिन विषम परिस्थितियों से निपटें जैसा कि अर्जुन सम्मुख युद्धभूमि था। अनासक्त भाव (फल की इच्छा बगैर) से कर्म करें। वह तभी संभव होगा जब गीता को समग्रता में समझ कर उत्कृष्ट आचरण करें। यही जीवन जीने की कला है जो गीता में कृष्ण और अर्जुन के माध्यम से बताया गया है।

मालवीय भवन, १५ अक्टूबर, २०००

धर्म का अर्थ नैतिक कर्म

प्रो० कमलाकर मिश्र
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर
दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वराणसी

व्यक्ति की प्रतिभा परमत्मतत्त्व की ही देन है। जिस प्रकार विद्युत के प्रकाश का श्रेय उस पावर हाउस को है, जहाँ से वह विद्युतशक्ति प्रवाहित हो रही है। ठीक उसी प्रकार हम जो कुछ करते हैं उसका श्रेय उसी परमात्मा को है। जीवात्मा परमात्मरूप महासागर की ही एक लहर है।

जीवन के विभिन्न व्यावहारिक क्षेत्र के लिए ही गीता का ज्ञान उपयोगी है। भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण ही भक्ति का चरम स्वरूप है। भगवान् ने अर्जुन को समस्त धर्मों का परित्याग करके अपने शरण में आने के लिए जो कहा है वहाँ धर्म का तात्पर्य नैतिक कर्म है। गीता तो नैतिक कर्म करने का उपदेश देती है। अतः समस्त धर्मों के परित्याग का तात्पर्य कर्तव्य का ही परित्याग नहीं, अपितु कर्तव्य में जो अहंभाव है, उसका त्याग ही सतस्त धर्मों का परित्याग है।

प्रकतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। *(३/२७)*

— — — — — — — — — — —

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। *(३/३०)*

प्रतिभा शक्ति परमात्मा से प्राप्त होती है। हम जितना ही अधिक परमात्मा से जुड़ेगें उतना ही अधिक प्रतिभाशक्ति का विकास होगा। हमारा अहंभाव प्रतिभा का अवरोधक है। अतः जीवन में सफलतादायिनी प्रतिभाशक्ति के विकास के लिए अहंभाव का त्याग आवश्यक है।

हम जीवन में सफल कैसे हों, हम सफलता के लिए कार्य कैसे करें, इसका सही मार्ग दर्शन भी परमात्मा ही करते हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। *(२/५५)*

भगवान हमें निमित्त बना कर कार्य करने का निर्देश कर रहे हैं। अहंभाव का त्याग कर निमित्त बन कर हम अपने कर्तव्य कर्मों का निर्वाह करें। सब कुछ करने वाला भगवान् है। इस भाव से हमें निमित्त मात्रं होकर कर्तव्य करना चाहिए। समस्त कार्यों को करते हुए भी हम कुछ नहीं कर रहे हैं। सब कुछ परमात्मा ही कर रहे हैं। इस प्रकार कर्म करने वाले सदैव सफल होते हैं। अतः हमें अहंकार का त्याग कर परमात्मा के प्रति समर्पणपूर्वक अपना कर्तव्य करना चाहिय। जो मनुष्य आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर, प्रभु में पूर्णतया लीन होकर तथा प्रभु के शरणागत होकर कर्म करते हैं वह परमात्मा के दिव्यप्रेम को प्राप्त होते हैं।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।। *(४/१०)*

मालवीय भवन, २२ अक्टूबर, २०००

प्रतिस्पर्धा रहित सहज भाव ही उत्कृष्ट मार्ग

प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी
धर्मागम विभाग,
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मालवीय भवन में गीता—व्याख्यान माला का कार्यक्रम सभी जिज्ञासु एवं भक्तजनों के लिए महामना मालवीय जी द्वारा एक अमूल्य निधि के रूप में उपस्थापित किया गया है। वेद के अपौरूषेय, ब्रह्म के श्वास—निःश्वास रूप निराकार भाव, शुद्ध रूप भागवत पुराण तथा साक्षात् उपदेश रूप गीता के त्रिविध आयाम कश्मीर परम्परा में आचार्य रामकण्ठ जो कश्मीर के मनीषी विद्वान हैं, ने गीता पर गम्भीर चिन्तन मनन् किया। एतद्नुसार भगवान सर्वमय, जगन्नियन्ता हैं। उन परमेश्वर को "तस्मै सर्वात्मने नमः" के स्वरूप के साथ वे नमन करते हैं। सर्वात्मा अर्थात् सभी की आत्मा या सभी जिसकी आत्मा है जिससे सब कुछ है, जो सब कुछ है, उस परम परमेश्वर को नमन है। गीता के प्रारम्भ से बारहवें अध्याय में वर्णित विषय को तेरहवें अध्याय में पुनः विशेष रूप से विचारित किया गया। प्रकृति के परा तथा अपरा स्वरूप को स्मरण के साथ पुनः क्षिति, जल, पावक, अनल व आकाश मन, बुद्धि तथा अहंकार ये अपरा प्रकृति हैं, बतलाया गया है। इसी को क्षेत्र (शरीर) के रूप में तेरहवें अध्याय में बतलाया गया है। शरीर क्षेत्र इसलिए है क्योंकि कर्मबीज इस शरीर में ही निहित रहता है। परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ के रूप में यहाँ परिभाषित हुई है। क्षेत्र रूप समस्त शरीरों में परमात्मा—क्षेत्रज्ञ का विनाश नहीं होता। परा—अपरा प्रकृति के सम्यक् ज्ञान से परतरा प्रकृति का ज्ञान होता है

जो नित्य, विभु तथा आनन्दमय है। सृष्टि में अनेक प्रकार के शरीर मिलते हैं यथा एकेन्द्रिय (एक कोशीय), द्विरिन्द्रिय) आदि। यह विस्तार दस इन्द्रिय रूप शरीर तक होता है जिसका प्रतिमान यह मानव शरीर है।

इस मानव शरीर के माध्यम से पूरुषोत्तम रूपी परम परमेश्वर को जाना जा सकता है। एतदर्थ आवश्यक ज्ञान हेतु गीता के सोलहवें अध्याय में वर्णित दैवी सम्पत्ति को अभ्यास द्वारा स्वयं में आत्मसात करने की विधा निर्देशित की गई है। आचार्य रामकण्ठ के अनुसार किसी के सदाचार को देखकर स्वयं सदाचार युक्त होने का भाव मान या अभिमान है क्योंकि इसके पीछे प्रतिस्पर्धा की वासना छिपी रहती है। अतः अभिमान, दर्प, दम्भ, हिंसा आदि भाव को प्रतिस्पर्धा रहित सहजभाव में अपनाना ही उत्कृष्ट मार्ग माना गया। इस योग्यता के साथ ही तत्व ज्ञान का मार्ग प्रशस्त होता है। आन्तरिक शुचिता के साथ बाह्य भाव की पवित्रता देवभाव को प्राप्त कराती है। अनन्य योग क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के परिपूर्ण ज्ञान से आता है, तब अव्यभिचारिणी भक्ति का उदय होता है। यही तात्विक ज्ञान है। इसके बाद ''जानहु तुमहि तुम्हहि हुई नाई'' का स्थायी अमृतभाव अनुभूति में आता है।

मालवीय भवन, ५ नवम्बर, २०००

स्वधर्म और गीता

डा० उर्मिला चतुर्वेदी
दर्शन विभाग,
महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीता श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया दिव्य बोध है। अर्जुन का क्लैब्य दूर करके उसे युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए गीता कही गयी है। इसलिए कर्म को गीता का विशिष्ट संदेश माना जाता है। गीता में कर्म शब्द स्वधर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इसका उपदेश स्वधर्म में बाधक मोह के निवारणार्थ अर्जुन को दिया गया है। अतः प्रवृत्ति धर्म का उपदेश ही गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

गीता में इस बात पर बल दिया गया है मनुष्य को अपने कर्तव्य रूपी स्वधर्म का पालन मरण पर्यन्त अनेक कष्ट और बाधाओं को सहकर भी करना चाहिए। अपने कर्मों से प्रतीत होने वाले भयंकर परिणामों से भी हमें विचलित नहीं होना चाहिए। कभी–कभी हमें ऐसा लगता है कि अपने स्वाभाविक कर्मों को छोड़ देने में ही हमारा हित है किन्तु स्वाभाविक कर्मों को छोड़ना हमारे लिए सम्भव नहीं है क्योंकि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ पुनः हमें अपनी ओर बलात् खींच लेती हैं। अतः मनुष्य को सात्विक, स्वाभाविक तथा सहज प्राप्त स्वधर्म का ही आजन्म पालन करना चाहिए। स्वधर्माचरण से ही चित्त में निष्कामता का उदय होता है और उसे सभी कर्म सहज तथा निरूपद्रवी मालुम होने लगते हैं। मनुष्य को यह निष्कामता मनोजय से प्राप्त होती है और इस

मनोजय को अभ्यास और वैराग्य द्वारा प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न करना चाहिए।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६/३५)

गीता के प्रारम्भ में अर्जुन धर्मसम्मूढ (धर्मसम्मूढ चेताः २/७) हो गया था और स्वधर्म उसे विगुण दिखायी देने लगा। गीता का मुख्य उपदेश है कि स्वधर्म कितना ही विगुण क्यों न प्रतीत हो उसी में रहकर मनुष्य का सच्चा विकास सम्भव हो सकता है। स्वधर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे बड़ा समझकर ग्रहण किया जाये और छोटा समझ कर छोड़ दिया जाये। वस्तुतः वह न बड़ा होता है और न छोटा। अतः मनुष्य को स्वधर्म का पालन निष्काम भाव से, फलासक्ति छोड़कर करना चाहिए। जो कर्म हमें सहज–प्राप्त होता है। उसी का फल त्याग सम्भव हो सकता है। इसलिए सात्त्विक, स्वाभाविक और सहज प्राप्त स्वधर्म का पालन ही मनुष्य कर्तव्य है। इस स्वधर्म को हमें कहीं ढूँढ़ना नहीं पड़ता यह तो जन्म के साथ ही हमें सहज प्राप्त होता है। अतः अपने हिस्से में जो सेवा आ जाये उसे ईश्वर–प्रीत्यर्थ करने को तत्पर रहना चाहिए। इससे यह भी भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं वह ईश्वर ही कराता है हम तो केवल निमित्त मात्र हैं। इससे हमारा कर्त्तापन का अहंकार भी लुप्त हो जायेगा।

सहज प्राप्त स्वधर्म का पालन मनुष्य से स्वतः होना चाहिए किन्तु अनेक प्रकार के मोहों के कारण ऐसा नहीं हो पाता अथवा बड़ी कठिनाई से होता है। ऐसी दशा में स्वधर्म निष्ठा अकेली पर्याप्त नहीं होती उसके लिए दो अन्य सिद्धान्त जागृत करने पड़ते हैं– एक तो मैं केवल मर्त्य–शरीर नहीं हूँ और दूसरा, मैं कभी न मरने वाली अखण्ड आत्मा हूँ। इन तीनों को मिलाकर एक पूर्ण आत्मज्ञान होता है। ये

दोनों सिद्धान्त ज्ञातव्य हैं और स्वधर्म कर्तव्यरूप है। यह तत्वज्ञान गीता को इतना आवश्यक जान पड़ता है कि वह पहले इसी का आह्वान करती है तत्पश्चात् स्वधर्म का। इतना तत्वज्ञान मन पर अकिंत हो जाय तो स्वधर्माचरण बिल्कुल कठिन नही लगेगा। शरीर क्षणभांगुर है यह समझकर उसका उपयोग स्वधर्म के लिए करना चाहिए।

गीता के अनुसार मनुष्य के साध्य स्वधर्माचरण का तात्पर्य उन कर्तव्यों से है जो चातुवर्ण्य व्यवस्था के अर्न्तगत समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए अलग—अलग निर्धारित किये गये हैं। इस वर्णधर्म या स्वभाव धर्म के सम्पादन की योग्यता मनुष्य में जन्मजात होती है। इसलिए जिस व्यक्ति का जैसा स्वभाव हो, जैसा पराक्रम हो उसी के अनुरूप पूर्णता प्राप्ति में उसे संलग्न रहना चाहिए। हमें दूसरे का धर्म भले ही श्रेष्ठ मालुम हो उसे ग्रहण करने में हमारा कल्याण नहीं है क्योंकि बहुधा यह सरलता आभासी होती है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। *(३/३५)*

जिसकी जो वास्तविक वृत्ति होती है उसी के अनुसार उसका धर्म होता है। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त हो, नीरस लगता हो तो भी जो हमें प्राप्त है वही हमारे लिए श्रेयस्कर तथा कल्याणकारक है।

गीता के कर्म—दर्शन का सार यह है कि फल की ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव—प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्म का पालन करना चाहिए और उसके द्वारा चित्त शुद्धि करते रहना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपनी मनः शारीरिक रचना समझने का यत्न करना चहिए और उसी के अनुसार कर्म करना चाहिये। जिन मातां—पिता के यहाँ हमारा जन्म हुआ है उसकी सेवा करने का धर्म हमें जन्मतः ही प्राप्त है। जिस

समाज में हमारा ज़न्म हुआ है उसकी सेवा का धर्म भी हमें इसी क्रम में प्राप्त हो गया है। हमारी अपनी वृत्तियाँ परिवर्तित होती जाती हैं वैसे–वैसे पहले का धर्म छूटता जाता है और नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। इस सहज–प्राप्त कर्म में ही मनुष्य को अपने उद्धार का मार्ग ढूँढना चाहिए। मनुष्य का यह स्वधर्म परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील होता है। परिवर्तनशीलन धर्म जीवन के ह्रास तथा विकास के साथ परिवर्तित होते हैं। शरीर की विभिन्न अवस्थाओं तथा आश्रम–व्यवस्था के धर्म परिवर्तित होते हैं। वर्णधर्म अपरिवर्तनशील है क्योंकि हम नैसर्गिक मर्यादा को छोड़ नहीं सकते। केवल अपवाद स्वरूप इनमें परिवर्तन हो सकता है किन्तु अपवाद को नियत नही माना जा सकता।

सृष्टि की क्षतिपूर्ति करना भी मनुष्य का धर्म है। इसके लिए हमें यज्ञ, दान तथा तप करना चाहिए। इससे पृथ्वी, समाज तथा शरीर तीनों की सम्यावस्था बनी रहती है। यज्ञ नित्य कर्तव्य है जिसके बिना जगत क्षणभर भी नहीं टिक सकता। जो मनुष्य स्वर्धरूप शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं उनके सभी कार्य यज्ञ रूप होते हैं। स्वधर्म रूप कर्म सदैव समाज के लिए हितकारी होता है जिससे समाज का योगक्षेम होता रहता है। अतः इसी के पालन में मनुष्य का सच्चा सुख और जगत का कल्याण निहित है।

मालवीय भवन, १२ नवम्बर, २०००

गीता ईश्वर के मुखारविंद से निकली रसवाणी

श्री सुब्रत ब्रह्मचारी
भागवताचार्या
बृजइन्क्लेव, वाराणसी

वसुदेव सुतं देवं कंसचाणूर मर्दनम्।
देवकी परमानन्दं कृष्णं वन्दे जद्गुरुम्।।

महर्षि वेद व्यास ने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्याकिमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पध्मनामस्य मुख पद्माद्विनिःसृता।।

गीता का ही भली प्रकार से श्रवण—कीर्तन पठन—पाठन—मनन और धारण करना चाहिए। अन्य शास्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता है। क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान के मुख से निकली हुई है। गीता गंगा से भी बढ़कर है। शास्त्रों में गंगा स्नान का फल मुक्ति बतलाया गया है। परन्तु गीता रूपी गंगा में गोते लगाने वाला स्वयं तो मुक्त होता ही है वह दूसरों को तारने में भी समर्थ हो जाता है। गंगा तो भगवान के चरणों से उत्पन्न हुई है। परन्तु गीता तो भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविंद से निकली है और घर—घर में जाकर उन्हें मुक्ती का मार्ग दिखलाती है।

श्रीमद्भगवद्गीता जीव के जन्म जन्मांतर के अज्ञान को दूर करने का शास्त्र है। जब मनुष्य जीवन रूपी रथ की लगाम ईश्वर को सौंपता है तभी श्रीकृष्ण उसके सारथी बनते हैं। प्रारब्ध ही हमारा संकल्प है, जो शुभ संकल्पो से पुष्ट होता है। कुरुक्षेत्र का युद्ध सद्वृत्ति और

असद्वृत्ति के मध्य चलने वाला युद्ध है। जो शरणागत हो जाता है उसे प्रभु परमपद शान्ति प्रदान करते हैं। बांके बिहारीलाल ने गीता में कहा कि मनुष्य स्वयं ही अपनी उन्नति तथा पतन के लिये उत्तरदायी है। वह कैसा संकल्प करता है, मार्ग चुनता है, यम–नियम, आसन, मनन–चिंतन करता है उसीके अनुसार उसका जीवन बनता है। अतः हमें सद्आचरण, अनुशासन तथा श्रद्धा आदि का अनुसरण कर अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

''न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते॥''

गीता का ज्ञान मानव के समस्त कार्यों को दिशा निर्देश देकर पवित्र करने वाला है।

मालवीय भवन, १९ नवम्बर, २०००

गीता जीवन जीने की कला

प्रो० आर० सी० मिश्र
मनोविज्ञान विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तिम अध्याय में अर्जुन ने कहा कि मेरा मोह नष्ट हो गया और मैं भगवान के बताये हुए मार्ग पर चल कर अपना कर्तव्य करुँगा। मुझे तो कर्तव्य का विस्मरण हो गया था। भगवान के प्रसाद से मेरा संदेह निवृत्त हो गया। गीता के अध्ययन से मनुष्य को ये सभी लाभ प्राप्त होते हैं। गीता के १६वें अध्याय में भगवान ने हमें जीवन जीने की कला बताई है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही दो परस्पर विरोधी तत्व हैं, एक दैवी तत्व एक आसुरी तत्व। दैवी तत्व की प्रशंसा होती है, जो दैवी सम्पदा के रूप में जाना जाता है। आसुरी गुणों से हमें नरक मिलता है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।। *(१६/२०)*

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता:।
प्रसक्ता: कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।। *(१६/१६)*

इस अध्याय के अध्ययन से दो कुरुक्षेत्र दिखाई पड़ते हैं एक वह जहाँ महाभारत का युद्ध हुआ था। दूसरा कुरुक्षेत्र हमारा जीवन है। हमारे जीवन में धर्मक्षेत्र ओर कुरुक्षेत्र का संघर्ष सदैव चलता रहता है। हमारा मन कभी कृष्ण का समर्थन करता है तो कभी कौरव का। इस प्रकार धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र का संघर्ष निरंतर चलता रहता है। तरह—तरह के गुण हमारी सेना है। दैवी सेना के सेनापति अभय हैं। दैवी गुण

जितने बताये गये हैं उनसे अहंकार हो सकता है। अहंकार न हो उसके लिए भगवान ने अन्तिम दैवी गुण के रूप में नातिमानिता को बताया है। अहंकार होने से पीछे से हमला करने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अतः भगवान ने सेना के पीछे नातिमानिता को भी सेनापति के रूप में रखा है।

तेजः क्षमाधृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।। *(१६/३)*

गुण और दोष दोनों एक हैं। पर उसका उपयोग कैसे करते हैं, वही जीवन जीने की कला है। प्रत्येक गुण में दोष हो सकता है। अहंकार से युक्त होने पर गुण भी दोष हो जाता है और नम्रता से दोष भी गुण बन जाता है।

स्वर्ग की गली सकरीं है पर नरक का द्वार बहुत विस्तृत है। कर्म जब तक अनुकूल रहता है तब तक सब सुख–सुविधायें प्राप्त होती रहती है। जब कर्म प्रतिकूल हों जाता है तब सब सुख–सुविधायें समाप्त हो जाती है।

भगवद्गीता चिकित्सक है। अतः बताती है कि काम–क्रोध और लोभ का कारण क्या है? कारण के ज्ञान से ही कार्य की निवृत्ति सम्भव है। रोग के कारणों के ज्ञान से ही चिकित्सक रोग की चिकित्सा कर पाते हैं। काम, क्रोध और लोभ तीनों नरक के द्वार हैं। ये हमारे वर्तमान और भविष्य दोनों को नष्ट करते हैं। हमें इन तीनों शत्रु पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। यद्यपि विजय पाना कठिन है तथापि इनकी दिशायें बदलने का काम तो हम कर सकते हैं। यदि ये ही भगवोन्मुख हों तो ये भी दोष गुण बन सकते हैं। भूत की

ओर गये क्रोध को भविष्योन्मुख करने की आवश्यकता है। हमें शक्ति का सदुपयोग करना चाहिये।

मालवीय भवन, २६ नवम्बर, २०००

शास्त्रों के मतभेदों को दूर करने में गीता सर्वमान्य ग्रन्थ

प्रो० शिवजी उपाध्याय
अध्यक्ष
साहित्य विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता के चिन्तन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जिन परिस्थितियों में इसका उपदेश हुआ, उसमें इसका गाया जाना संभव नहीं। फिर भी 'गीता' इसका नाम इसलिए रखा गया कि यह भगवान की 'गी:। वाणी' स्वत: स्फुरित हुई है। शास्त्रों के मतभेदों को दूर करने के लिए यह 'गीता' सर्वमान्य ग्रन्थ है। मतभेद हो, पर मतिभेद नहीं होना चाहिये। मतिभेद से तत्वज्ञान, भगवद् साक्षात्कार नहीं होता, मतभेद होना स्वाभाविक है। दर्शनों के मतभेदों को लें, तो ऐसा ज्ञात होता है कि शास्त्र का उपयोग वेद के लिए किया जाता है। अन्य शास्त्र अनुशासन करने के कारण अनुशासनात्मक कहे जाते हैं। इन शास्त्रों में सूत्र के रूप में तत्व का विवेचन किया गया है। आज देश की दुर्दशा बुद्धिभेद से ही हो रही है। शास्त्रों में अनेक नियमों का निर्देश है तथापि वे एक तत्व साक्षात्कार रूप लक्ष्य के ही पोषक हैं।

सम्प्रदाय दर्शनों के माध्यम से रहस्य को समझाने के लिए हैं, पर आज की स्थिति में यह शब्द मानों पारस्परिक द्वेष का कारण बन गया है। 'दाय' तो भाग है, पर सम्प्रदाय की निन्दा होती है। क्योंकि ये सम्प्रदाय ही आपसी बैर का कारण है। दर्शनों की गलत व्याख्या ही सामाजिक द्वेष का मख्य कारण हैं। वैष्णव, शैव आदि सम्प्रदाय एक—दूसरे के प्रति असहिष्णु है। गीता में समग्र दर्शनों का समन्वय है। विरोधी का विरोध अन्य के साथ दूर करने के

लिए 'समत्व' और 'योग' का प्रतिपादन गीता में किया गया है। साधना एवं चिन्तन में सभी के लिए 'योग' अर्थात समन्वय आवश्यक है। योग में सांख्य आदि सभी दर्शनो का सामन्जस्य स्थित है। आज सत्रहवें अध्याय का पाठ हुआ है। इसमें 'श्रद्धात्रय का विभाग' बताया गया है। इन्हीं तीनों के द्वारा 'योगी' बनने का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को देते हैं। ममत्व के त्याग से ही 'योग' में निष्ठा होती है। समग्र ममत्व त्याग ही योग है।

अर्जुन के प्रश्नों को ध्यान में रखकर श्रीकृष्ण ने श्रद्धात्रय के माध्यम से शास्त्र–ज्ञान को आवश्यक बतलाया। सामान्य इच्छा से विशिष्ट इच्छा ही स्पृहा है। ज्ञान और स्पृहा से श्रद्धा स्वरूप हैं। सत्व, रज, तम ये तीनों में से जिससे युक्त श्रद्धा होती है, वैसा ही ज्ञान एवं सम्प्रत्यय होता है। समग्र उपदेश समत्व ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिए है। आज 'प्रासंगिकता' शब्द बड़ा प्रचलित है, पर हमारे शास्त्र में यह शब्द उस अर्थ में नहीं है, वरन् उपयोगिता का प्रयोग किया गया है। हमारे शास्त्रों में कल्प, मन्वन्तर आदि की चर्चा है। पाश्चात्य परम्परा में तिथियों, दिपों मे काल को पुराविद् निर्धारित करते हैं जो ठीक नहीं है।

पूरे विश्व में आज स्वास्थ्यरक्षा के लिए योग का उपयोग हो रहा है। अत्यन्त अशान्त पश्चिम देश भी योग की ओर उन्मुख हो रहा है। इस योग का उपदेश भगवान ने अर्जुन के माध्यम से शाश्वत शान्ति की स्थापना हेतु दिया। व्यामोह के नाश के लिए सम्पूर्ण जगत का यह गीता विलक्षण एवं 'अप्रतिम' ग्रन्थ रत्न है। लोभ की उपयोगिता के लिए ही सभी शास्त्र या व्यक्ति अथवा महापुरुष होते हैं। लोभ ग्राह्यता ही शास्त्रों का प्रमुख प्रयोजन है। श्रद्धात्रय के माध्यम से दान, भोजन आदि का विभाजन किया है।

मालवीय भवन, ३ दिसम्बर, २०००

नर से नारायण बनेः गीता का संदेश

डा० सूर्य नारायण उपाध्याय
अवकाश प्राप्त
धर्म विद्या विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

महाभारत के युद्ध के दस दिन बीत जाने पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रुहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। *(२/७)*

कि अपनी कृपण दुर्बलता के कारण मैं अपना कर्तव्य भूल गया हूँ और अपना धैर्य खो चुका हूँ। ऐसी दशा में कृपा करके मुरली मनोहर दयासिन्धु बताइये कि मेरे लिये क्या श्रेयस्कर होगा? अब मैं आपका शिष्य हूँ और आपका शरणागत हूँ। कृपया मुझे उपदेश देने की कृपा करें। मधुसूदन अर्जुन के सखा हैं, महाभारत के महासमर में उसके पार्थ सारथी हैं लेकिन प्रभु के प्रभुत्व से युक्त होने के कारण शरणागत की रक्षा करना उनका स्वभाव है। अर्जुन के त्राहिमाम कहने पर जो ब्रह्म विद्या एकान्त में सुनाई जाती थी, आरण्य में पढ़ाई जाती थी उसी विद्या को भगवान ने रण क्षेत्र में गीत अर्थात स्वतः स्फुरित वाणी में सुनाया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।। *(२/१०)*

हृषिकेश श्रीकृष्ण को इसलिये जगद्गुरु कहा जाता है क्योंकि उन्होंने गीता के माध्यम से ब्रह्माण्ड में ऐसा मन्त्र फूँका कि जो दीक्षा के योग्य थें और हैं, सभी दीक्षित हो गये । उन्होंने यह गूढ़ व रहस्मय ज्ञान जो सहज ग्राह्य है उस गीता के माध्यम से दिया। वेणु की तान से दीक्षा दी।

गोविंद ने संजय को ऐसे दिव्य चक्षु से युक्त किया कि उसने कुरुक्षेत्र से दूर हस्तिनापुर में राजा धृतराष्ट्र को भगवान द्वारा कहे उपदेश को सुनाया। गीता का यह ज्ञान एकादशी को प्रकट हुआ था। जिसे स्वयं भगवान अपने श्रीमुख से कहते हैं और श्रोता हैं एकमात्र उनके प्रिय सखा व शिष्य अर्जुन। एकादशी का अर्थ है पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन। इन ग्यारह इन्द्रियों को संयमित करके जो प्रभु की ओर उन्मुख होता है उसे ही मोक्ष मिलता है।

'सबकी ममता ताग बटोरी, ममपद बंधहि बांध बर जोरी।' *(रामचरित मानस)*

प्रभु के चरणों में स्वयं को समर्पित करना चाहिए। जब विषय समाप्त हो जायेंगे तो प्रभु की मधुमयी वाणी मुरली की मधुर धुन सुनाई देने लगेगी।

गीता अनुभव जन्य होने के कारण स्मृति की कोटि में रखी गई है। गीता में विषाद योग का निरुपण इसका वैशिष्ट्य है।

बेपथुश्च शरीरे में रोमहर्षश्च जायते।। *(१/२९)*

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यावस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। *(१/३०)*

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव। *(१/३१)*

जीवात्मा रूपी अर्जुन रथी है और मधुसूदन सारथी हैं। बुद्धि का स्थान सारथी का है। सारथी के रूप में स्वयं प्रभु ही प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण का जीवन अत्यंत कष्टमय और संघर्षमय था परन्तु वो सदैव स्थिपप्रज्ञ रहें। समस्त संघर्षों में निरतंर हंसते हुए कर्म करते रहे और मुरली की मनोहारी धुन बजाते रहे।

गाण्डीव साधना का प्रतीक है। अर्जुन का अर्थ है अर्जन करना अर्थात् प्राप्त करना। अर्जुन ने माधव को प्राप्त किया। अर्जुन की तरह जीवन की बागडोर भगवान के हाथ में सौंप कर जीवन संघर्ष में उतरना चाहिए। गीता में कृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं–

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसां।
विराशी निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। *(३/३०)*

गीताका मन्तव्य है कि साधन में व्यक्ति का अधिकार है, साध्य में अधिकार नहीं हैं फिर कर्म क्यों करें? प्रभु ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि–

सक्ताः कर्मण्याविद्वांसो यथा कुवन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंगेहम्।। *(३/२५)*

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।। *(३/२०)*

साधन में भी अधिकार कर्तव्य बुद्धि से होना चाहिए। गीता का अध्ययन नित्य आत्मा की दृष्टि से करना चाहिए। "मामनुस्मर युद्ध च" के द्वारा भगवान ने संदेश दिया कि प्रभु का स्मरण करते हुए जीवन संग्राम पार करना है। नर–से नारायण बनने का संदेश गीता देती है। आत्मा का परमात्मा से मिलन ही मोक्ष है।

मालवीय भवन, ७ दिसम्बर, २०००

गीता शास्त्र में श्रीकृष्ण गुरु–रूप में विराजमान हैं

डा० सुधांशु शेखर शास्त्री
पूर्व संकाय प्रमुख
वैदिक दर्शन विभाग,
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वंशी विभूषित करान्नवनीर दाभात्।
पीताम्बररदरूणविम्ब पुलोधराष्ठात्।।
पूणेन्दु सुन्दर मुखादराविन्द नेत्रात्।
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।
सच्चिदानन्दरुपाय विश्वोत्पत्त्यादि हतवे।
तपत्रयाविनाशय श्रीकृष्णाय वयं नुमः।।

सर्वप्रथम मैं महामना श्री मालवीय जी महाराज के पावन चरणारविंदों में नमन करता हूँ, जिन्होंने इस गीता प्रवचन माला का आरम्भ कर हमें श्रीगीता माता की गोद में बैठने का अवसर प्रदान किया है।

गीता हमारी माता है। "कुपुत्रो जायेत् क्वचिदपि कुमाता न भवति" के अनुसार पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाये, किन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती। माता सदा पुत्रों का मङ्गल ही चाहती है, हित का ही उपदेश देती है। परन्तु गीतामाता, माता होने के साथ एक शास्त्र भी है ऐसा शास्त्र जो समस्त वेदों का सारभूत है। भगवान भाष्यकार ने कहा है– "तदिदं गीता शास्त्रं सर्ववेदार्थसार–संग्रहभूतम्"(गी.शा.भा.) शास्त्र का कार्य हित का शासन करना ही है "शासनाच्छ्रास्त्रम्" कहा गया है। अतएव वाचस्पति मिश्र ने कहा है– "चातुर्वर्ण्यस्य चातुराश्रम्यस्य च

यथायथं निषेकादिश्मशानान्तासु ब्रह्म मुहूर्तोपक्रम प्रदोष परिसमापनीयासु नित्यनैमित्तिककाम्यकर्म पद्धतिषु च ब्रह्मत्वे च शिष्याणां शासनात् शास्त्रमृग्वेदादि।" गीताशास्त्र भगवान के मुखारविंद से साक्षात निःश्रृत है। अत एव वह भगवान श्रीकृष्ण का वाङ्मयम स्वरूप है। गीता किसी भी धर्म, वर्ण, जाति के व्यक्तियों को शिक्षक एवं गुरु के समान हित का मार्ग दिखाने का कार्य करती है।

गुरु सदा शिष्य पर अनुग्रह करते हैं। गीताशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण गुरु रूप में विराजमान हैं। सृष्टि स्थित संह्रति निग्रह एवं अनुग्रह यह पाँच कार्य परमेश्वर के शास्त्रों में वर्णित हैं। जब परमेश्वर गुरु–रूप धारण करता है तो इन पाँच कार्यों में से चार कार्यों को छोड़ कर केवल अनुग्रह ही करता है। "अनुग्रहैकवपुः" गुरु होता है। अत एव अर्जुन ने श्रीकृष्ण के सखा–भाव का परित्याग कर शिष्य–भाव को अपनाया। गीता में जब अर्जुन ने "शिष्यस्तेऽहं–साधिमां त्वां प्रपन्नम्" मैं आप का शिष्य हूँ आप मुझ पर अनुग्रह करें, प्रार्थना की तभी भगवान ने उपदेश देना आरम्भ किया और शासन के शब्दों में अर्जुन से कहा–

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। *(२/११)*

हे अर्जुन! तुम पण्डितों की सी बाते तो करते हो किन्तु शोक करने के अयोग्य के विषय में शोक करते हो, इत्यादि।

और इस प्रकार शासन करते हुए प्रभु ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन, जो समस्त प्राणिमात्र का उपलक्षण है, प्रतिनिधि है, को यथार्थ तत्व एवं उसे प्राप्त करने हेतु साधन का उपदेशादि है।

इस गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय धर्म है। शास्त्र के तात्पर्य का निर्णायक उपक्रमादि के पर्यालोचन से विषय रूप से धर्म ही विद्ध होता है। आरम्भ में "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" कह कर कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा है। शिष्य की जिज्ञासा का विषय ही शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य होता है। उसी जिज्ञासा शान्ति के लिए तत्कर्तृक प्रश्न का समाधान आचार्य करते हैं। जैसे ब्रह्मसूत्र में जिज्ञास्य ब्रह्म है अतः उसी का "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र से आरम्भ प्रतिपादन ब्रह्मसूत्र में किया गया है। इसी प्रकार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य धर्म ही है। धर्म के विषय में अर्जुन का अज्ञान एवं संदेह है इसी बात को प्रश्न के उपक्रम में"कार्पण्य दोषोयहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः" कहा गया है।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" इस श्रुति के अनुसार आत्मतत्वज्ञान से शून्य होना ही कृपणता है। कार्पण्यदोष से उपहत स्वभाव वाला अर्जुन धर्म के विषय में संमूढ होकर पूछता है। अतः धर्म ही अर्जुन की जिज्ञासा का विषय है। वही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। उसीका मध्य में भी तत्तत स्थलों में—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

"धर्मसंस्थापनार्थाय संभवानि युगे युगे"

"अश्रद्दधाजाः पुरुषाः धर्मयास्य परंतप" इत्यादि रूप से उपदेश दिया है।

एवं अन्त में अष्टादश अध्याय में भी "यया धर्ममधर्मश्च" श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः इत्यादि अनेक स्थलों में धर्म का उल्लेख किया है।

अब प्रश्न यह है धर्म पदार्थ क्या है? इस संबंध में भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है कि– "द्विविधोहि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणों निवृत्तिलक्षणश्च जगतः स्थितिकारणम्" इति। वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है एक प्रवृत्तिलक्षण एवं द्वितीय निवृत्तिलक्षण। इन में यज्ञादि समस्त कर्मकलाप प्रवृत्तिलक्षण धर्म कहे गये हैं, ये तत्तत् कामनाओं के पूरक होते हैं तथा स्वर्गादि फल के साधक होते हैं। किन्तु इन्हें ही जब मानव ईश्वरार्पण बुद्धि से फलकामना रहित होकर करता है तो ये सभी धर्म चित्त शुद्धि द्वारा मोक्ष में साधन बन जाते हैं। अतएव भगवान ने फलाभिसंधि रहित होकर कर्म करने का उपदेश गीता में दिया है। अनन्त सुख कभी भी नष्ट न होने वाला परमानन्द की प्राप्ति ही गीता का मुख्य प्रयोजन है। अज्ञान एवं अज्ञान कार्य समस्त संसार का परित्याग कर उस परमानन्द जो आत्म का ही स्वरूप है, को प्राप्त करने हेतु ही धर्म का उपदेश दिया गया है व धर्म यानि कर्म समस्त वासना शून्य होकर ही उस आत्मस्वरूप परमानन्द रूप मोक्ष का साधन हो सकता है। अतः वासना शून्य होकर ही कर्म करने का आदेश दिया गया है।

इसी परमानन्दस्वरूप मोक्ष का मुख्य साधन आत्मज्ञान है। "तमेव विदित्वा त्रहते ज्ञानन्मुक्तिः" इत्यादि वेद वाक्य आत्मज्ञान को ही मोक्ष का मुख्य साधन बताते हैं। क्योंकि समस्त बन्धों का हेतु अज्ञान है और उस अज्ञान का नाश आत्मज्ञान है इसे ही निवृत्ति लक्षण धर्म कहा गया है। इस आत्मज्ञान की प्राप्त के लिए ही गीता में प्रथम छः अध्यायों में कर्म का, द्वितीय छः अध्यायों में भक्ति का उपदेश दिया है। निष्काम कर्म करने से चित्त को मलिन करने वाला पाप निवृत्त होने से शुद्ध चित्त में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य से सांसारिक भोगों से विमुख होकर आत्मज्ञान के साधनों में प्रेरित होता है और तब आत्मज्ञान को प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्म परम्परा से

साधन है। किन्तु आत्मज्ञान साक्षात् ही मोक्ष के प्रति साधन माना जाता है। और इसीलिए गीता के तृतीय षट्क अन्तिम छः अध्यायों में आत्मज्ञान का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन किया है।

जीव ईश्वर का अंश है। यद्यपि यह अंशाशी भाव भी अज्ञान से ही कल्पित है। आत्मज्ञान होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है तो यह जीव अपना जीवत्व अर्थात जीवत्व छोड़कर परमात्मा में विलीन हो जाता है, यही इस का मोक्ष है। वस्तुतस्तु "धरति विश्वम्" इस व्युत्पत्ति से अधिष्ठानरूप से सबको धारण करने वाला परमात्मा ही धर्म है उसके प्राप्ति का साधन होने से कर्म और आत्मज्ञान भी धर्म कहे जाते हैं। आष्टादश अध्याय के आरम्भ में कामनाओं का, वासनाओं का त्याग ही कर्म का त्याग है न कि स्वरूप से कर्मों का त्याग प्रतिपादन किया है और फिर त्याग, सुख, बुद्धि, धृति एवं ब्रह्मणादि कर्मों के सात्विक, रजस्, तमस् भेद से तीन–तीन भेद बता कर आत्मज्ञान के साधनार्थ ही अधिष्ठान कर्त्ता करण पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन इत्यादि विविध चेष्टाएँ एवं दैव के स्वरूप का उपदेश दिया है और अन्त में धर्मारूप साधन से प्राप्य आत्मस्वरूप धर्म में विश्रान्ति का उपदेश–"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज" के द्वारा दिया गया है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप परमात्मा में जीवरूप अंश का विलय होना ही मोक्ष है। इसी का अन्त में उपदेश दिया है।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

मालवीय भवन, १७ दिसम्बर, २०००

जीव को ब्रह्म से मिलाने वाला योग है गीता

डा० अम्बिका सिंह
अवकाश प्राप्त उपमहानिदेशक,
भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद

गीता का सन्दर्भ ग्रन्थ वेद है। गीता आचरण ग्रन्थ है। उपनिषदों का सार है। जीव को ब्रह्म से मिलाने वाला योगग्रन्थ है। गीता को समझने के लिए उसकी भूमिका को समझना आवश्यक है।

धृतराष्ट्र मोहग्रस्त है। पुत्रमोह के कारण राजा होते हुए भी वस्तुत: राजकाज अपने पुत्र दुर्योधन को सौंपे हुए थे। शोक और मोह ही बन्धन के कारण हैं। अर्जुन का भी मोह होता है। पर उसका मोह उच्चस्तरीय है। मानवता के धरातल पर है। अर्जुन के विषादरूप रोग के उपचार कें लिए वैद्य हैं भगवान कृष्ण। भगवान कृष्ण केवल अर्जुन के सारथी ही नहीं हैं अपितु मानव के जीवनरथ के सारथी भी हैं।

वस्तुत: भगवान ने जानबूझ कर अर्जुन को मोहग्रस्त कर हम सब को शिक्षा देने हेतु गीता का उपदेश दिया। ऐसा स्वयं आचार्य शङ्कर कहते हैं। भगवान कृष्ण ने अर्जुन के हृदयदौर्बल्य को दूर किया है। गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान ने अर्जुन को यह कह कर उद्बोधित किया है कि जिस विषय में तुमको शोक नहीं करना चाहिये, उस विषय में तुम शोक कर रहे हो। अब तक तुम्हारे द्वारा दिये गये तर्क प्रज्ञावाद मात्र हैं, प्रज्ञा नहीं।

भगवान ने गीता के द्वितीय अध्याय में स्थित प्रज्ञ की व्याख्या की है। प्रज्ञा बुद्धि से ऊपर है। इसमें बुद्धि के अतिरिक्त धृति और स्मृति भी

है। स्मृति का अर्थ स्वरूपज्ञान है। हम हैं क्या? इसका ज्ञान स्मृति भी है। प्रज्ञा के अन्तर्गत ये तीनों आते हैं। इसीलिए भगवान ने द्वितीय अध्याय में आत्मतत्व क्या है, उसे स्पष्टतया बताया है।

कर्म को हम योग कैसे बना सकते हैं इसका उपदेश भगवान ने तृतीय अध्याय में किया। कर्म को यज्ञ बनाना है। स्वार्थ छोड़कर जब हम कर्म करते हैं तब वह कर्म यज्ञ बन जाता है। गाँधी जी ने अनासक्तियोग में यही बताया है। चतुर्थ अध्याय में कर्म की गति बताई गयी है। कर्म करते हुए किस प्रकार ज्ञान का उदय होता है यह चतुर्थ अध्याय का विषय है। कर्म सन्यास का उपदेश पंचम अध्याय में है। गीता का कर्मकाण्ड जहाँ समाप्त होता है उस छठें अध्याय के अन्त में भगवान अर्जुन को योगी बनने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार सभी अध्यायों में प्रतिपादित विषय एवं संगति है। पाप—पुण्य की खेत इसी शरीर में होता है। इसीलिए भगवान ने गीता में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ योग का उपदेश दिया है।

गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान ने मानव जाति के लिए यह संदेश दिया है कि मोहग्रस्त अर्जुन को हमने कर्म करने की स्थिति तक पहुँचा दिया है। गीतोपदिष्ट धर्म—मार्ग अपना कर कर्म में दक्षता पैदा कर मानव संसार बन्धन से मुक्त हो सकता है।

मालवीय भवन, २४ दिसम्बर, २०००

उपनिषदों का सार गीता

महामहोपाध्याय आचार्य श्री सीताराम शास्त्री
पूर्व संकाय प्रमुख,
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता के माहात्म्य में इसके श्लोकों को सुन्दर ढंग से गायन के लिए कहा गया है। 'गीता सुगीता कर्तव्या' के द्वारा गीता को सुगीता बनावें। वेदानुकूल ज्ञान ही सर्वमान्य है। इसलिए गीता में जो भी बातें कही गयी हैं, वे सभी उपनिषदों के साररूप हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे में चित्त लगावें, मेरे में प्राण अर्पित करें तथा मेरी चर्चा को परस्पर करें। मनुष्य के तीन प्रकार के कर्म होते हैं— प्रारब्ध, संचित तथा क्रियामान। इन्ही कर्मो के अनुसार समस्त प्राणी शुभाशुभ फल प्राप्त करते हैं। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, दो प्रकार के धर्म शास्त्रों में बताये गये हैं। इन्हीं में ऋषियों ने निवृत्ति तथा गृहस्थों ने प्रवृत्ति धर्म को अपनाया।

सभी शास्त्रों का लक्ष्य यही है कि परम पुरुषार्थ को प्राप्त करें। सभी छियानब्बे हजार मन्त्रों के प्रतीक स्वरूप यज्ञोपवीत है, अत एव इसे धारण करके ही सम्पूर्ण यज्ञादि कार्य किये जाते हैं। मन पवित्र हो तो उसके सारे कार्य भी अच्छे होंगे। यही मन सभी इन्द्रियों का स्वामी होकर सभी विषयों का भोग करता है। कर्म, क्रोध एवं लोभ—ये तीन प्राणियों के महान् शत्रु हैं।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।। *(३/४०)*

इन्हीं के वशीभूत होकर मानव अकार्य करता है, अत एव इन्हें वश में करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है–

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।। *(३/४१)*

भगवान् श्रीकृष्ण बड़े चतुर हैं, क्योंकि अर्जुन द्वारा कुलक्षय, कुलधर्म विनाश, वर्णसंकर आदि की बात करने पर वे बड़ी चतुरता से उसका समाधान करते हैं और आत्मा की सम्यक् विवेचना द्वारा उसे मूलतः समाधान हेतु उत्तर में समग्र गीतोपदेश करते हैं। प्रश्नोत्तर के अनुसार भी श्रीमद्भगवद्गीता अत्यन्त उपादेय है। समस्त कर्मों के फलों में आसक्ति रहित होकर कार्य करने की चेष्टा प्रत्येक लोगों को करनी चाहिये। इस प्रकार उनके उद्धार के लिए यह गीता आज के युग में भी पहले ही जैसे उपयोगी है। भगवान् के प्रति समर्पण भाव रखते हुए उनका स्मरण करते हुए प्रत्येक कार्य करने से मानव परम शान्ति को प्राप्त करता है–

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। *(२/५५)*

मालवीय भवन, ३१ दिसम्बर, २०००

दिव्य रूप क़ा दर्शन प्रभुकृपा से ही संभव

डा० व्यास मिश्र
अध्यक्ष, वेद विभाग,
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीता का उद्देश्य धर्म की स्थापना है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय चार के श्लोक सात में श्रीकृष्ण कहते हैं कि "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्——" धर्म की संस्थापना के लिये ही उनका अवतार होता है। संतो का कल्याण करना ही उनके जन्म का हेतु है। वेद से संबंधित जो भी है वही धर्म है। गीता वेदों की उदधि से संबद्ध है इसी कारण वेदों की चिन्तन धारा को प्रवाहित कर रही है।

गीता और वेदों में एक साम्यता है। वेदों के भी तीन भाग हैं जैसे कर्मकाण्ड, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के भी तीन सोपान हैं: ज्ञान, भक्ति और योग। उपासना का अर्थ है देवता के सानिध्य में बैठकर स्थित प्रज्ञ भाव से उसका ध्यान करना। देवता शब्द द्वि धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रकाश। श्रीकृष्ण तथा ईश्वर प्रकाशपुंज हैं। ईश्वर की उपासना गीता में भक्ति योग के रूप में प्रकाशित हुई है। गीता के नवम् अध्याय के २२वें, २३वें, २४वें, २५वें, २६वें श्लोक में श्रीकृष्ण ने उपांसना के इसी विषय को विस्तारपूर्वक कहा है। श्लोक २२में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो स्वरूप का ध्यान करके निरंतर मेरी पूजा करते हैं, उनकी जो भी आवश्यकताएं होती है उन्हे मैं पूरा करता हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। (९/२६)

वेदों के पुरुष सूक्त में १६ मंत्र हैं, जिनमें ईश्वर के विराट रूप का उल्लेख है। ऋषि का अर्थ है दर्शन। ऋषियों ने परमात्मा के जिस रूप का दर्शन किया वह उनकी वाणी में प्रकट हुआ। ऋषि और वेद (वाणी) को मिलाकर श्रुति बना। श्रुति का अर्थ हुआ कि सुनाई दिया। वेदों के पुरुष सूक्त मैं प्रभु के जिस विराट रूप को सुनाया उसे श्रीमद्भगवद्गीता में आनंदकंद मुरलीमनोहर ने "प्रयोग वेदांत एतत्" अर्थात प्रायोगिक रूप में अर्जुन को दिखाया। श्रुति वेदों का निरपेक्ष भाव था लेकिन गीता में विराट रूप का दर्शनसापेक्ष भाव है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में ईश्वर के विराट स्वरूप का वर्णन है। अर्जुन ने भगवान के विश्वरूप में एक ही स्थान पर स्थित हजारों भागों में विभक्त बह्माण्ड के अनन्त अंशों को देखा।

प्रभु के इस दिव्यरूप को कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में केवल श्रीकृष्ण के सखा अर्जुन तथा हस्तिनापुर में व्यास का शिष्य संजय ही देख पाया। ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि परमात्मा के दिव्य रूप का दर्शन उनकी कृपा से ही संभव है। श्रीकृष्ण स्वयं् कहते हैं कि तुम इन आँखों से मुझे नहीं देख सकते। अतः मैं तुम्हें दिव्य चक्षु प्रदान कर रहा हूँ इनसे मेरी योग विभूति को देखो। अध्याय ११ तथा श्लोक ८।

भगवान अपने भक्तों पर सदा सर्वदा कृपा करते हैं। भक्तवत्सल गोविंद मुरारी अर्जुन से कहते हैं कि प्रतिज्ञा करो कि 'मेरे भक्तों का कभी नाश न होगा।'' भगवन स्वयं् भी यह प्रतिज्ञा कर सकते थे, किन्तु ऐसा न करने का हेतु था; क्योंकि भक्तों के वश होते आये भगवान किसी भक्त के आग्रह पर उनकी प्रतिज्ञा टूट सकती थी परंतु भक्त की प्रतिज्ञा न टूटे

इसके लिये तो वो वचनबद्ध हैं। इससे भगवान का भक्त के प्रति असीम अनुग्रह प्रकट होता है।

मालवीय भवन, ७ जनवरी, २००१

कौन है गीता में मैं?

पं० विष्णुकान्त मिश्र
लहुराबीर, वाराणसी

कौन है यह गीता में मैं? क्या वही भगवान हैं? भगवान कहाँ हैं? असली भगवान कौन हैं? गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं– मैं श्रीकृष्ण, मैं ही अर्जुन, मैं ही हिमालय, मैं ही सूर्य–चाँद सब कुछ मैं ही, मैं ब्रह्मा का भी पिता, मैं देवो का भी देव मुझमें ही सम्पूर्ण जगत व्याप्त है धर्म की हानि होने पर मैं उदय होता हूँ और कर्म रहस्य का योग बतलाता हूँ। उसका सार तत्त्व यह है कि समत्व का बोध रहे, सामवेदी अध्ययन रहे, निष्काम का कर्म रहे, योग में बुद्धि रहे तो मोक्ष जल्दी मिलता है। कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीन कर्मों के भेद को जानो कर्म मोक्ष है, अकर्म स्वर्ग है, विकर्म तब उत्पन्न होता है जब कर्म में अकर्म को देखकर और अकर्म में कर्म को देखकर चलते हैं, उस चलने के साथ विकर्म जुड़ा होता है। यह विकर्म ही विवेचित कर्म है। धर्म सम्मत कर्म है, कर्मकाण्ड, ज्योतिषशास्त्र, सम्बन्धित मूल कर्म है जो मोक्ष के रास्ते पर चलने के लिए अपने साथ जरूरी कर्मों को यथादान तपयज्ञ को साथ लेता है।

भगवान कहते हैं, मैं ब्रह्माओं का पिता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे एक अंश में व्याप्त है। काल के प्रभाव से ब्रह्मा की मृत्यु जरूरी, मृत्यु परान्त नये ब्रह्माण्ड का उदय एक कोश के रूप में, ब्रह्म पर्यन्त समस्त लोक पुनरावर्ती उत्तरायण और दक्षिणायन मोक्ष और स्वर्ग के मार्ग, मैं ही ब्रह्मा, मैं ही विष्णु, मैं ही महेश हूँ। विष्णु भर्ता के रूप में,

महेश हर्ता के रूप में सम्पूर्ण पदार्थों का, सम्पूर्ण वृत्तियों का संचालन करते हैं। उन्हें हम भाव देव या स्वरूप देव बनाकर पूजते हैं। क्योंकि अपने उच्चतम भावों की उच्चतम अभिव्यक्ति को प्राप्त हो सकें। मैं के रूप में भगवान कहते हैं कि मैं महद ब्रह्म मेरे विकार से विगबैंक से क्रम विकास से यह संपूर्ण अष्टधा प्रकृति चेतन के साथ सम्पूर्ण जगत में विभक्त हो गयी और ८४ लाख योनियों के रूप में यह अष्टधा ही अपनी प्रकृति पुत्र से पुत्र के रूप में व्यक्त करती है। लेकिन इसमें जो आत्मारूपी चेतन जाता है, वह क्रम के विकास से न जाकर कर्म के विकास से जाता है। भगवान कहते हैं, मोक्ष और स्वर्ग रूपी दो मार्ग हैं। यदि तुम गुणातीत नहीं हुए हो तो स्वर्ग को भोगो लेकिन मोक्ष के तरीके से। और यदि गुणातीत हो गये हो तो मोक्ष को भोगो स्वर्ग के तरीके से। वह तरीका क्या है? समत्व बोध के साथ निष्काम कर्म हो साथ में योग हो, योग वह हो जिसे जोड़ने पर किसी को तोड़ने की जरूरत न पड़े तो तुम गुणातीत हो जाओगे जब मोक्ष के लायक हो जाओगे या स्वर्ग के लायक हो जाओगे तब उत्तरायण और दक्षिणायन रूपी ग्रह गोचर के समय अपने प्राणों का त्याग कर दोगे तो जिस मार्ग में मरकर जाओगे उस मार्ग के फल को प्राप्त करोगे। तो प्राण कौन त्यागता है जो सिद्ध पुरुष तत्त्व ज्ञानी होता है।

भगवान कहते हैं, मोक्ष को लक्ष्य मानकर चलोगे तो रास्ता जल्द तय कर लोगे। स्वर्ग को लक्ष्य मानकर चलोगे तो ८४ लाख योनियों में विचरण करना पड़ेगा। ८४ लाख योनियों में जिस योनि में यह मनुष्य है यदि उस योनि में वह मोक्ष को सत्य मानकर चलता है तो आगे के जितने भी पुरुषोत्तम और देवोत्तम श्रेणियाँ हैं जो स्वर्ग रूपी हैं उन्हें पार करते हुए वह स्वतः ही गुणातीत होकर कालातीत हो जायेगा और महद ब्रह्म में मिल जायेगा। इन्हीं सब बातों की

भगवान ने गीता में अपने को रूपक बनाकर, सम्पूर्ण सृष्टि का कार्य व्यवहार, सम्पूर्ण जगत के भावों को अपनी भाषा से सिंचित कर तथा अपने सम्पूर्ण सर्वस्व को जगत को समर्पित कर कर्म रहस्यों की व्याख्या की है।

मालवीय भवन, १४ जनवरी, २००१

गीता एक प्राण विज्ञान

पं० अनिरूद्ध तिवारी
अवकाश प्राप्त जनपद अभियंता,
बलिया

गीता एक धार्मिक ग्रन्थ है। धर्म वह है जो धारण करे। धारयति सः धर्मणा। धारण कौन करता है और किसे? यह विचारणीय है। द्वैत इस तत्व में है कि एक शरीर है दूसरा प्राण। प्राण का निवास शरीर में है। प्राण के पखेरु होने पर शरीर मात्र शव हो जाता है। प्राण ही उसको शिवत्व प्रदान करता है अर्थात् प्राण ही धर्म है।

मनुष्य पूरी सृष्टि का एक नमूना है। जो ब्रह्माण्ड में है वही शरीर रूपी पिण्ड में, भांड में है। "क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा। पंच रचित यहि अधम शरीरा।।" यही पंचतत्व है, इसीसे पिण्ड की रचना हुई है और सम्पूर्ण ब्रह्ममाण्ड की रचना हुई है। यही पांच तत्व सूक्ष्म शरीर में भी है। श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में पंचमहाभूतों के विस्तार को श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया है। उन्होंने शरीर, आत्मा और परमात्मा के अन्तर को स्पष्ट किया। अन्नमय, प्राणमय, और ज्ञानमय अवस्थाएं जीव के कार्यकलाप से संबंधित हैं।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।। *(१३/५)*

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।। *(१३/६)*

जो व्यक्ति इसमें विद्यमान शक्ति को जान लेता है वही ब्रह्म का ज्ञाता कहलाता है। ब्रह्म ज्ञानी मुक्त हो जाता है।

जन्म से पूर्व ही प्राणशक्ति, ब्रह्मशक्ति जीव के मस्तक में स्वराट् रूप में रहती है। जीव पिण्ड के रूप में गर्भ के जल में आनंदमय स्थिति में रहता है। उसका लालन–पालन ब्रह्मशक्ति करती है। जंन्म होने पर यही शक्ति रीढ़ की हड्डी के माध्यम से मूलाधार में आ जाती है। इस प्राण शक्ति को मूलाधार से उठा कर मस्तिष्क में शिवतत्व पर पहुंचाना ही उन्नति है, उत्कर्ष है। प्राण शक्ति शिव से मिलने की सतत् चेष्टा करती है। यह शक्ति शरीर रूपी दुर्ग में रहने के कारण ही दुर्गा कहलाती है। जब यह प्राण शति, कण्ठ तक पहुंचती है तो वह बैकुण्ठ है। "विगत कुण्ठा यस्मात्" जहाँ पहुँच कर कुण्ठाएं समाप्त हो जाती है। इस शरीर में पांच पाण्डव और श्रीकृष्ण हैं। नकुल, सहदेव, भीम, अर्जुन, युधिष्ठर और श्रीकृष्ण। युधिष्ठर का स्थान कंठ है। प्राण शक्ति जब मूलाधार से कंठ में पहुंच जाती है तो कंठ, बैकुंठ, नीलकंठ हो जाता है। युधिष्ठर ही पांच पाण्डवो में सशरीर स्वर्ग गये थे। प्राण शक्ति मुक्त होकर अधिष्ठान चक्र में पहुंचती है जो श्रीकृष्ण का स्थान है। मानव शरीर में इस प्रकार छः चक्र है। मेरूदण्ड शक्ति पीठ है। समस्त तीर्थ इसी शरीर में हैं।

योग में आठ अंग है और हमारे शरीर में भी आठ अंग है। योग का ज्ञान अच्छे गुरू से प्राप्त करना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण ने योग का रहस्य अर्जुन को परम भक्त होने के कारण पूर्णतया बताया। क्योंकि सखा से कुछ भी गोपनीय नहीं होता।

प्राण शक्ति के चंचल रहने पर चित्त चंचल रहता है और उसके स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है।

गीता के सिद्धांत के ज्ञान मात्र से लाभ नहीं है उसके क्रियापक्ष को जानना आवश्यक है। भगवान ने जिस योग की शिक्षा दी उसे हम सुखपूर्वक कर सकते हैं। उसके लिये किसी प्रकार के वाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। व्यक्ति को योग का अभ्यास करना चाहिए। योग की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं का गीता में उपदेश दिया गया है जैसे विषाद योग, कर्मयोग, ज्ञान योग, भक्ति योग, पुरुषोत्तम योग तथा मोक्ष सन्यास योग। शक्ति का शिव से योग ही मोक्ष अर्थात् सन्यास योग है। साकार से निराकार का योग ही मुक्ती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो
नामाष्टादशोऽध्याय:

मालवीय भवन, २१ जनवरी, २००१

वैश्वीकरण के दौर में गीता अत्यन्त उपयोगी

डा० डी०ए० गंगाधर
विभागाध्यक्ष,
दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हिन्दू धर्म, वैदिक अथवा सनातन धर्म के लिए प्रयुक्त होता है। जब कभी किसी धर्म की चर्चा का विषय आता है तो सर्वप्रथम प्रश्न उठता है कि उसका पवित्र आधार या धर्म ग्रन्थ क्या है? धर्म ग्रन्थ किसी धर्म के लिए आवश्यक स्रोत होता है। किन्तु सनातन हिन्दूधर्म के विषय में इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है। क्योंकि यह धर्म कोई एक विशेष अर्थ में सिमटा संकुचित धर्म नहीं है, यह एक ऐसी जीवनाचार, साधना पथ का बोध कराता है जिसमें विभिन्नता में गुम्फित एकत्व पाते हैं। वेद, उपनिषद, धर्मशास्त्र, पुराण, स्मृति, दर्शन की लंबी परम्परा में श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थानमयी का एक प्रमुख अंग है। प्राचीन आचार्यों से लेकर आज तक इस ग्रन्थ पर अनेक दृष्टियों से विचार होता आ रहा है। यह ग्रन्थ परमेश्वर, गोविन्द का हृदयगान है जो उनका स्वात्मरह प्रकाश है। अपने प्रिय पात्र को प्रकट किया गया आत्म विद्या का ब्रह्म का प्रकाशपुञ्ज है, जो किंकर्तव्यविमूढ़ जीवात्मा को आलोकित कर हृदय में स्वधर्म का लय अंकृत करता है।

गीता के कई प्रयोजन हैं, जिन्हें पर्व कहा गया है— १— वैराग्य पर्व जिसमे विषय—भोग की तृष्णा से विरक्ति २— सांख्य पर्व, जो नित्यानित्य वस्तु विवेक पूर्वक सर्वपरित्याग,३— योग अर्थात् सम्यक रूपेण एकत्व, समत्व, ४ तप अर्थात् एकाग्रता तथा ५— भक्ति अर्थात्

पूर्वरूपेण ईश्वरार्पण. का भाव जगना। इनमें से कोई भी एक पर्व मनुष्य के मंगल के लिये पर्याप्त है।

गीता का मुख्य सन्देश है युक्ताहार विहार अर्थात् आहार–विहार में युक्त भाव या योग प्राप्त करना, यह सुख, सुख के निवारण हेतु रामबाण है। इसी से ध्यान–क्रिया का आरंभ होता है जो चंचल मन को स्थिर करता है–

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। (६/१८)

मैं समझता हूँ कि धर्म का सार इस 'योग' को क्रियात्मक रूप में व्यवहृत करना है। गीता ने बड़े ही सरल एवं व्यावहारिक रूप से उपनिषदों की रहस्यमयी अनुभूतियों को मनुष्यभाव के लिए सुगम बना दिया है।

गीता का अध्ययन यह सिद्ध कर देता है कि आज जब हम बीसवीं शताब्दी पार का इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश कर रहे हैं तब भी धर्म का महत्व अपनी जगह सर्वोपरि है। १९वीं शताब्दी में विज्ञान अपनी उपलब्धियों के प्रति पूर्ण आश्वस्त हो गया था, किंतु २०वीं शताब्दी में उसकी सीमितता का आभास हो गया। ब्रह्माण्ड की रहस्यमयता को केवल अध्यात्म के उन्नयन से अनुभूत किया जा सकता है। सम्पूर्ण विश्व, आज नैतिक, आध्यात्मिक अवनति को दूर कर उसके मूल्य को समझने के लिए लालायित हो रहा है। हमारे अन्तः मन की कुण्ठा, उपभोक्तावाद से नहीं अपितु अध्यात्मवाद से समाप्त होगी।

मालवीय भवन, २८ जनवरी, २००१

समूचा विश्व परमात्मा का आत्मप्रसार

डा० कमलेश झा
धर्मागम विभाग,
प्राच्य विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परमेश्वर की शक्तियों का वर्गीकरण पाँच भागों में किया गया है– इच्छा, ज्ञान, क्रिया, निग्रह तथा अनुग्रह। अनुग्रह प्रधान प्रभु ही जीवों के उद्धार के लिये गुरुरूप से अवतीर्ण (आविर्भूत) होकर आत्मतत्व के बोधादेय से अनासक्त एवं भक्तिभाव से ओत–प्रोत शरणापन्न जन को जीवभाव एवं जगहभाव से ऊपर उठाकर शिवभाव में अवस्थित कर कृतार्थ कर देती है। इस प्रकार बन्ध–मोक्ष–चित्र, विचित्र क्रीड़ा को लीला से सम्पादित करने वाले परमात्मा का समूचा विश्व आत्मप्रसार से अतिरिक्त स्वतन्त्र अस्तित्व वाला नहीं है।

इदम–स्वरूप से प्रतीत होने वाली समस्त वस्तु का स्वभाव अहम्–प्रकाश ही है। कोई भी जड़ वस्तु प्रकाश संबंध के द्वारा ही भासित होता है। किन्तु गुरु कृपा एवं परमात्म प्रसाद के बिना प्रकाश, पूर्णहम्भाव रूप से प्रतीत नहीं हो पाता। अतः भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा है– नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।

आगम में की गई परमाद्वैत–सिद्धान्त की स्थापना, समस्त मानवों के लिये परमोपादेय है। जैसे चक्षु इन्द्रिय में किसी वस्तु का रूप प्रतिबिम्बित होता है, श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द, रसनेन्द्रिय में रस, त्वगिन्द्रिय में स्पर्श तथा उपस्थ में आनन्द का प्रतिबिम्ब होना प्रत्यक्ष–सिद्ध है। रूप

नैर्मल्य—सम्पन्न चक्षु, दर्पण, मणि आदि में मुख—रूप प्रतिबिम्बित होता है और वहाँ बिम्बमुख निमित्तकारण होता है।

बोध, प्रकाश, स्वात्मा, संविद् आदि शब्द समानार्थक होने से पर्याय कहलाते हैं। संविद् तो सर्वनैर्मल्य—सम्पन्न है। अतः संविद् में सम्पूर्ण दृश्य जग़त प्रतिबिम्बित होता है। भगवती संविद् अथवा भगवान स्वात्म महेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा के बिना ही सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित कर सृष्टि स्थिति तथा ध्वंस की लीला का सम्पादन करे तो इसमें क्या आश्चर्य है?

स्वात्म महेश्वर किसी की अपेक्षा के बिना ही स्व़तन्त्र रूप से भासित होता है वह बिम्ब कहलाता है। जो अन्यथा मिश्रित होकर, दूसरे की अपेक्षा से ही भासित होता है वह प्रतिबिम्ब कहलाता है।

इस प्रकार स्वात्मा—संविद—प्रकाश बिम्ब कहलाता है और सम्पूर्ण विश्व प्रतिबिम्ब कहलाता है तथा इस प्रतिबिम्ब में प्रकाश से अभिन्न स्वातन्त्र्य—शक्ति ही निमित्त कारण के रूप में मान्य होती है। जैसे दर्पण में अग्नि—जल आदि परस्पर विरोधी पदार्थ मिश्रित हुए बिना भासित होते हैं, उसी प्रकार स्वच्छ चेतन में समस्त विश्व अनामिश्रित होकर भासित होता है। महामहोपाध्याय गुरुदेव श्री रामेश्वर झा जी ने "पूर्णता प्रत्यभिज्ञा" में इसे भलीभाँति प्रतिपादित किया है—

भावा भान्ति यथादर्शे निर्मलेपि विरोधिनः।
अनामिश्रास्तथैतस्मिंश्चिन्नाये विश्वसंचयाः।। *(१/३३९)*
X X X X X
स्वतन्त्रः परिपूर्णायं भगवान् भैरवो विभुः।
तन्नास्ति यन्न विमले भासयेत् स्वात्मदर्पणे।। *(१/३४०)*

इसी प्रकाश को अहम्, पूर्णहन्ता, पराहन्ता, शिवता, परमेश्वरता प्रभृति शब्दों से कहा जाता है। इस पूर्ण अहम् को कर्मकारक में संस्कृत में "माम" तथा अधिकारण में मयि शब्द से कहकर उसकी शरण में जाने का उपदेश कर भगवान वासुदेव ने अपने गुरु दुर्वासा (दूर्वाशा) को सम्मान दिया है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ *(९/२२)*

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ *(९/३४)*

भगवान् जब अपने शिष्य से "कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ" से उपदेश का सार्थक्य—परीक्षण करते हैं तब अर्जुन कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ *(१८/७३)*

ऐसी रहस्यमय श्रीगीता जी में सद्गुरु के मार्गदर्शन में सकृद् निमज्जन करने मात्र से जीव की सहज शिवरूपता उद्दीप्त होती है।

॥ सकृद् गीताम्भसि स्नानं संसार मलनाशनम्॥

मालवीय भवन, ४ फरवरी, २००१

गीता में कर्म की स्थिति

डा० राजीव रंजन सिंह
धर्मशास्त्र विभाग,
सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता कर्मयोग का शास्त्र है। कर्म करना स्वाभाविक क्रिया है। कर्म के बगैर कोई भी नहीं रह सकता। देह, मस्तिष्क और चेतना विषयक कर्म करते रहते हैं। अकर्म की स्थिति में कोई नहीं हो सकता। कर्म का अभाव भी नहीं हो सकता। कर्म करना जीव के लिये आवश्यक है। कर्म की इस अनिवार्यता का गीता के तीसरे अध्याय में विशद् वर्णन किया गया है।

न हिं कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। *(३/५)*

गीता में कर्म के तीन रूपों का वर्णन है। प्रथम है, कर्म को पूरी निष्ठा तथा पूरी योग्यता से करना। श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन तथा विभिन्न क्रिणा इसका सजीव उदाहरण है। कृष्ण ने रास, इस कौशल से रचाया कि वो महारास हो गया। कालीदाह का मर्दन बाल लीला का कौतुक बन गया। पार्थ सारथी बने तो अर्जुन के दृष्टव्य रथ का ही संचालन नहीं किया वरन् अर्जुन के मन व आत्मा के सारथी बन गीता का उपदेश देकर उसका मोह भंग किया। कृष्ण का कर्म जैसा उन्होंने स्वयं गीता के चमुर्थ अध्याय में कहा है कि उनका कर्म होते हुए भी फल बंधन से परे है। कर्म के अच्छे या बुरे परिणाम से आवृत्त नहीं है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। *(४/१४)*

कर्म, फल की चिन्ता तथा आगत के भय से दूषित हो जाता है। इसी कारण प्राणी कर्मफल को भोग नहीं पाता। उसे कर्म करने का आनंद भी नहीं मिल पाता। स्व: का बंधन कर्म स्वातन्त्र्य को समाप्त कर देता है। मैं और मेरा में आबद्ध कर्म स्व: के दायरे में सिमट जाता है।

कर्म का दूसरा चरण है फल या परिणाम से निसंग होना। जब कर्म कर्तव्य भाव से किया जाता है तो वो फल से सम्बद्ध नहीं होता। जब जीव, कर्म निमित्त भाव से करता है तो चिंतन व्यक्ति विशेष के लिये न होकर समष्टि के लिये होता है। उसका कर्म समष्टि के लिये होता है। कर्म के दूसरे चरण में कृतृत्व भाव कुछ अंशों में बचा रह जाता है।

कर्म के तीसरे चरण में कर्त्ता भाव समाप्त हो जाता है। कर्म समत्वरूप हो जाता है। सब कुछ उस प्रभु की इच्छा से होता है। कर्म होते हुए भी वो कर्म नहीं रहता। इसमें जीव दृष्टा भाव से कर्म करता है। शेष बचती है एक अनुभूति। यह अनुभूति सुख–दुख, संयोग–वियोग, कर्म–अकर्म, कर्म फल आदि से समन्वित नहीं होती। समस्त क्रिया कलाप एक चलचित्र की तरह चलता रहता है।

कर्म में द्वन्द्व का कारण अन्तस में छिपा 'मैं' का भाव है। श्रीकृष्ण अर्जुन को इस द्वन्द्व से उबरने के लिये कहते हैं। वासुदेव कहते हैं कि समस्त क्रियाएं कर्म होने की प्रक्रिया का अंग मात्र है। कर्म करते हुए कर्म से विरक्ति नहीं हो पाती। अत: कर्म को जानबूझ कर तथा समझ कर करना चाहिए। यही कर्म धर्माचरण बनता है। कर्म दो भावों से किया जाता है। एक भाव है कर्म का प्रियकर होना तथा दूसरा भाव है कल्याण भाव। प्रिय और कल्याण भावों का समत्व ही धर्म है। कर्म में विश्व हित का भाव ही पशु से दैव बनना है। अर्थात पशुपति होना है। कर्मकाण्ड आत्मा को अनुशासन में बांधता है और जैसे–जैसे

स्वधर्म कर्मकाण्ड से अभ्यास में बदलने लगता है। कर्मकाण्ड छूट जाता है। गीता के षष्टम अध्याय में कृष्ण इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं–

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। *(६/२०)*

आत्मा मुक्त हो जाती है। कर्म, ज्ञान और भक्ति ही धर्म है। श्रीकृष्ण आनंद स्वरूप हैं। उनका समस्त जीवन कर्म सुकौशलम, कर्म बंधन से निसंगता और कर्त्ता के अहं से परे कर्म प्रक्रिया का प्रमाण स्वरूप है।। अकर्म के अज्ञान से निवृत्ति हो जाती है और आनंनद की अनुभूति होती है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।। *(२/७१)*

मालवीय भवन, ११ फरवरी, २००१

गीता धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थ

डा० हरिप्रसाद अधिकारी
तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

गीता भारतीय संस्कृति का पर्याय तो है ही इसके साथ–साथ यह सम्पूर्ण विश्व के मार्ग दर्शन में सक्षम है। इसमें साधारण भाषा शैली में जिन गूढ़तम दार्शनिक रहस्यों का विवेचन किया गया है वैसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

गीता का महत्व मात्र इसलिए नहीं है कि वह एक धार्मिक, दार्शनिक ग्रन्थ है, प्रस्थानत्रयी में उसको स्थान प्राप्त है, अपितु महानतम ग्रन्थ महाभारत का महत्वपूर्ण अंश होने से यह एक ऐतिहासिक तथा राजनीति का भी ग्रन्थ है। इसमें मानवीय स्वाभाविक समस्या को प्रश्नोत्तर के माध्यम से हृदयग्राही रूप से समाधान करने का प्रयास किया गया है।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि कोई भी उपाय या समाधान एक या दो बार चरितार्थ होने पर अप्रासंगिक होने लगता है। यहाँ तक कि लम्बे समय तक सेवन करने पर औषधी भी प्रभावहीन हो जाती है। यह प्रश्न गीता के साथ–साथ सारे प्राचीन शास्त्रों पर लागू होती है। अतः उनका समयानुरूप व्याख्यान आवश्यक हो जाता है।

इस सन्दर्भ में मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि गीता कोई समय सीमा में बँधी औषधी नहीं अपितु यह वह विटामिन है जो सभी अवस्थाओं में सभी को ऊर्जा प्रदान करता है।

मैं यहाँ यह संकेत करना बेहतर समझता हूँ कि गीता वस्तुतः हमारे शरीर के अन्दर सनातन रूप से घटित होने वाले युद्धों को भी प्रस्तुत है। जैसा कि "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीमते" कहकर शरीर को ही क्षेत्र कहा गया है और गीता का आरम्भ भी धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे से ही हुआ है। यह कोई मनगढ़न्त या काल्पनिक बात नहीं है अपितु एक रहस्य है और भारत के कई मूर्धन्य मनीषियों ने गीता के इस आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत किया है। अतः हमें गीता का अनुशीलन करते समय मात्र भौतिक रूप से नहीं अपितु इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

गीता का प्रादुर्भाव किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को समझाने एवं सत्य का मार्ग दिखाने के लिए हुआ है। वस्तुतः संसार में संदेह में पड़े हुए सभी जन अर्जुन हैं तथा तत्वज्ञ पुरुष श्रीकृष्ण हैं। एक बात यह भी ध्यातव्य है कि कर्तव्यमार्ग का यह उपदेश किसी जोर जबर्दस्ती के बिना, सहजभाव से, प्रश्नोत्तर रूप में दिया गया है, सारे उपदेश के बाद–"यथेच्छसि तथा कुरु" कहकर गीता संसार को एक ऐसा महान् संदेश देती है कि कोई भी उपदेश इच्छा स्वातन्त्र्य का विघातक नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार तिक्त औषधी को सर्वग्राह्य बनाने के लिए उसमें मीठी वस्तु मिलायी जाती है उसी प्रकार सारे शास्त्रकारों ने भी अपने–अपने विषय को रूचिकर बनाने के लिए कुछ न कुछ आकर्षक तत्वों का प्रयोग किया है। जैसा कि प्रायः पुराणों में श्रृंगार रस के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। मनुष्य प्रथमतः उन्हीं से आकृष्ट होता है तत्पश्चात धीरे–धीरे उसको असली तत्व तक पहुँचाया जाता है, परन्तु

गीता इसका अपवाद है, इसमें एक भी बात साक्षात् या परंपरया व्यर्थ नहीं है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि गीता दैवी और आसुरी सम्पद्रूपी पाण्डव और कौरवों के शाश्वत् संघर्ष को प्रस्तुत करते हुए उस पर विजय प्राप्त करने का मार्ग दिखाती है। साथ ही समस्त शुभाशुभ कर्मों का उत्तरदायित्व भी व्यक्ति को प्रदान करते हुए गीता कहती है–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।
बन्धुरात्मा मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। *।। ऊँ शान्तिः।।*

मालवीय भवन, १८ फरवरी, २००१

गीता मानवता के कल्याण का कालजयी ग्रन्थ

डा० चौथी राम यादव
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीताशास्त्र में सांस्कृतिक विकास की विभिन्न धाराओं का समत्व है। वेद, श्रुति, पुराण, उपनिषद्, महाभारत, रामायण आदि कुछ ऐसी रचनाएँ हैं जो हमारी पूरी सांस्कृतिक परम्परा के स्रोत हैं। भारतीय मनीषा से परिचित जो भी व्यक्ति होगा, भले उसने इन ग्रन्थों को न भी पढ़ा हो तो भी वह इनके तथ्यों से परिचित होगा। घर घर में भागवद् परायण के आयोजनों ने भारतीय जनमानस तक सांस्कृतिक मूल्यों को पहुँचाने का कार्य किया। गीता के बारे में बार–बार कहा गया है कि वो उपनिषद् रूपी गाय का दूध है। सारी ज्ञान परम्पराओं के मंथन का परिणाम श्रीमद्भगवद्गीता है। गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग का सामंजस्य है। वैदिक, पौराणिक और उससे इतर जो भी परम्पराएं हैं उनका सामंजस्य महाभारत में दिखाई देता है। गीता का महत्व इसलिए अधिक है कि वो ज्ञान की परस्पर विरोधी धाराओं को जोड़कर समरस और सर्वजनीन बनाती है।

गीता में एक जिज्ञासु है अर्जुन और जिज्ञासा का शमन करने वाले हैं श्रीकृष्ण। ये कृष्ण अर्जुन संवाद महाभारत का महत्वपूर्ण अंग है। क्योंकि अर्जुन का विषाद, दुविधा किंकर्तव्यविमूढ़ता प्रतीक है तत्कालीन संकट ग्रस्त भटकी हुई, दिशाहीन और दुविधा में पड़ी जनता जनार्दन एवं मानवता का। गीता के कालजयी ग्रन्थ होने का कारण यही है कि वो

भारत और विश्व में मानवता की समस्याओं का समाधान करता दिखाई देता है। एक वैयक्तिक संवाद सार्वजनिक संवाद का रूप ले लेता है। इसकी सार्वजनिता का कारण है लोक मंगल। यह सबकी जिज्ञासा का शमन करता है।

महाभारत के नायक भीष्म पितामह न होकर श्रीकृष्ण हुए, क्यों? यह एक रहस्य है? चिन्तन का गंभीर विषय है? पुराण काल विविध संस्कृतियों के संक्रमण का युग था। वह युग विभिन्न संस्कृतियों के संगम का काल था। वैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल तक इन्द्रदेव सर्वप्रमुख देवता हैं लेकिन पुराणकाल में विष्णु का महत्व बढ़ने लगता है। कुछ अतिरिक्त विशेषताओं से युक्त विष्णु का वर्चस्व हो जाता है। उसी विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण का महत्व स्थापित होता है। कृष्ण एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसमें विभिन्न विरोधी तत्वों का समत्व हैं जैसे महान योगी, राग, अनुरागी लीलाधर; कर्मयोगी—कर्म से असम्पर्कित इस तरह संलिष्ट व्यक्तित्व दो ही थे एक शिव और दूसरे कृष्ण। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इसके नायक नहीं बन सकते थे। भीष्म पितामह जैसे सत्य निष्ठ और महान योद्धा, वयोवृद्ध, इतिहासवेत्ता और सेनानी के रहते हुए भी सर्वेश्वर श्रीकृष्ण गीता के नायक बनें। भीष्म पितामह ने हस्तिनापुर के सिंहासन की रक्षा करना अपने जीवन का कर्तव्य मान लिया। इस प्रकार भीष्म ने वर्तमान के सत्य की तो रक्षा की किन्तु भविष्य के सत्य की रक्षा भीष्म नहीं कर सकें। कृष्ण ने सत्य की रक्षा करने से भी अधिक लोकमंगल को देखा। प्रखर इतिहास बोध से अतीत, वर्तमान और भविष्य में कृष्ण सामंजस्य स्थापित करते हैं। यही कारण है भीष्म अपेक्षित रह गये और इतिहास के सारथी कृष्ण बने। जनता में कृष्ण की पूजा हुई।

महाभारत काल में भागवत धर्म की आंधी चल रही थी। इसके लोकदेवता तथा लोकशक्ति श्रीकृष्ण थे। पातंजली ने लिखा है कि भागवत धर्म की जो आंधी उत्तर भारत में चल रही थी उसे व्यास जी ने गीता दर्शन की ओर मोड़ दिया। लोकदेव श्रीकृष्ण को ज्ञानयोगी, कर्मयोग व ईश्वर का दर्जा देकर उस प्रवाह को रोक दिया। नारायण पूजा के लिये कृष्ण पंचमेल पूजा का उसमें से जो विघ्न हुआ उसमें आर्य व आर्येतर परम्पराओं का समावेश हो गया। इस तरह नर देवता सर्वेश्वर बन कर प्रतिष्ठित हुआ।

गीता में भक्तियोग का जुड़ना एक ऐतिहासिक घटना है। भक्ति का स्वरूप तो पुराणों व शास्त्रों में भी मिलता है। गीता में भक्ति का विकास गुण कर्म विर्वजितम के रूप में हुआ। भक्ति के क्रमिक विकास को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि पशुचारी समाज का देवता इन्द्र था। यज्ञ आदि में पशुबली होती थी। लेकिन जब कृर्षि युग में परिवर्तन हुआ तब पशु की बलि नहीं वरन् उसका कृर्षि में उपयोग प्रारंभ हुआ। बलि, हिंसा, यज्ञ आदि बंद होने लगे और कृष्ण गौ—रक्षक के रूप में गोपालक बने। कृष्ण ने शारीरिक श्रम (गाय चराना, राक्षस वध, छात्र धर्म का पालन करना) व बौद्धिक श्रम के द्वारा श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के अन्तर को दूर कर उसमें समत्व स्थापित किया। इसी क्रम में वो क्रियायोग, ज्ञानयोग और भक्ति के समत्व स्थापित करते हैं। तीनों योग में भक्ति—शरणागति को सबसे उत्तम गति बताकर भक्ति की सरस सलिलधारा प्रवाहित करते हैं। गीता के बारहवें अध्याय में अर्जुन पूछता है कि सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति में क्या अन्तर है? वो किसका पालन करे? श्रीकृष्ण ने इसका कोई स्पष्ट उत्तर न देते हुए यही कहा कि निर्गुण भक्ति जटिल है और सगुण भक्ति सरल है। दोनों रास्तों को खुला रखा।

मध्ययुग में भारत में जिस भक्ति आन्दोलन का उदय हुआ उसका स्रोत पौराणिक साहित्य भी है। परन्तु उस पौराणिक भक्ति और मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन में कुछ अन्तर है जैसे मध्यकालीन भक्त संतो ने आश्रम तथा वर्ण व्यवस्था को नहीं माना। ज्यादातर संत निम्न जातियों से हुए। स्त्रियाँ जो मुख्य धारा (ज्ञान—योग) से अलग थीं। भक्ति के माध्यम से भक्ति आन्दोलन से जुड़ गई। भक्ति संतों ने बुद्धिजीवी के द्वन्द्व को समाप्त कर दिया। बौद्धिक धर्म की श्रेष्ठता व उच्चता को इन संतो ने सहज भाव से नकार दिया। बिना किसी कुंठा के अपने कर्म व पेशे को कार्य निष्ठा से करते हुए दर्शन की ऊँचाई को पहुँच गये। गीता के कर्मयोग के कर्मसौंदर्य को जीवन से जोड़ कर नया अध्याय लिखा। शास्त्र निरपेक्ष चिंतन इनकी विशेषता है। यही कर्तव्य बोध श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता में कराते हैं।

भगवद्, पुराण और गीता के माध्यम से विकसित होने वाली सगुण भक्ति की धारा है। लेकिन कृष्ण की तरह मध्ययुगीन भक्ति, भक्त संत भी निगुर्ण—सगुण में स्पष्ट भेद नहीं कर सके। दोनों ही धाराओं में समत्व दर्शन का प्रतिपादन किया गया अर्थात सभी ईश्वर के समक्ष समान हैं। दोनों ही उपयोगी हैं। भक्ति, समाज के बहुसंख्यक लोगों को जोड़ने वाली है। गोपियाँ जिवात्माएं हैं, कृष्ण एक ब्रह्म, जिसको प्राप्त करने के लिए जीवआत्मा रूपी गोपियाँ निरतंर प्रयास करती हैं। दर्शन शुष्क होता है, भक्ति उसमें सरसता पैदा करती है। जीवन को सरस बनाती हैं श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की अनिवार्यता के अनुरूप अतीत को आधुनिक से समत्व स्थापित कर दिशा निर्देश देने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिससे मानवता है। मानवमात्र के कल्याण ने गीता को कालजयी बना दिया है।

मालवीय भवन, २५ फरवरी, २००१

आत्मसंयम ही गीता का मूल मंत्र है

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय
अध्यक्ष, ज्योतिषविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा रसायन है जो सभी प्रकार के मानसिक विकारों का समाधान करने में सक्षम है। मनुष्य का चंचल मन कब किस उलझन में डाल दे नहीं कहा जा सकता। इसीलिए तो कहा गया है कि मन ही मनुष्यों के बंधन और मोक्ष का कारण बनता है। भगवान श्रीकृष्ण ने सर्वाधिक बल मन के नियमन पर ही दिया है। मन के नियंत्रित होने से अन्य इन्द्रियाँ स्वयं ही नियंत्रित हो जाती हैं।

यदि हम सृष्टि प्रक्रिया के साथ मन. के संबंध को जोड़े तो इसका यथार्थ चित्र सामने आता है। ज्योतिष शास्त्र में चन्द्रमा को मन का कारक कहा गया है। सर्वविदित है चन्द्रमा प्रतिक्षण विलक्षण गति से चलता है तथा नित्य नये–नये रूप में उदित होता है। किन्तु प्रकृति इसका नियमन करती है। अर्थात एक सीमा तक चन्द्रमा प्रतिदिन बढ़ता है फिर उसी क्रम से क्षीण होने लगता है। यही स्थिति मन की है। यह भी प्रतिक्षण बढ़ना चाहता है। इसीलिए कहा गया है कि 'मन नहिं सिन्धु समाय' इसके लिए अथाह सागर भी छोटा प्रतीत होता है। चन्द्रमा की तरह किसी सीमा तक ही मन का प्रवाह स्वीकार्य होता है। सीमा का अतिक्रमण मनुष्य को अनेक आपदाओं में ढकेल सकता है। यही कारण है कि योगशास्त्र का आरम्भ ही चित्त वृत्ति के निरोध से होता है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अत्यन्त अशान्त एवं निराश अर्जुन को लक्ष्य कर विश्व के समस्त प्राणियों को जागृत किया है। केवल अर्जुन को निस्त्रैगुण्य करने के लिए इतनी विषद् गीता की आवश्यकता नहीं थी। समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी अपने संकल्प मात्र से ही अर्जुन के विषाद को दूर कर सकते थे किन्तु उससे अर्जुन का तो हित हो जाता परंतु विश्व का हित नहीं होता। इतना सार्वजनिक एवं शाश्वत जीवन दर्शन नहीं मिल पाता। गीता के मनन से भय मुक्त प्रसन्न जीवन की उपलब्धि होती है। मनुष्य के अंतर्मन में छिपा हुआ भय मन की प्रसन्नता को भी नष्ट कर देता है। इसीलिए मन को अशान्त करने वाले राग, भय और क्रोध तीनों को दूर करने का उपदेश दिया गया। मन से भय का दूर होना ही प्रसन्न होने का लक्षण है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने मन पर नियंत्रण कर उसे ईश्वर की अनन्य भक्ति में लगा दे।

भगवान श्रीकृष्ण ने मोहग्रस्त अर्जुन को गीता के द्वितीय अध्याय से दसवें अध्याय तक अनेक योगों का उपदेश दिया अन्त में ग्यारहवें अध्याय में समस्त योगों से ऊपर उठ कर अपने परम ऐश्वर्य का साक्षात्कार करा दिया। उस अद्भुत स्वरूप का दर्शन कर अर्जुन के रोंगटे खड़े हो गए। सारे भ्रम नष्ट हो गए। समस्त प्रश्नों की श्रृंखलाएं समाप्त हो गईं। ईश्वर की कृपा से अर्जुन को उस अद्भुत दृश्य का दर्शन हुआ जो बड़े–बड़े योगियों को भी दुर्लभ है। यह सौभाग्य केवल अर्जुन को ही मिला क्योंकि अर्जुन ने सक्षम होते हुए भी औचित्य को समझा तथा अहंकार का त्याग कर श्रीकृष्ण के शरणागत हुए। भगवान श्रीकृष्ण की भी प्रतिज्ञा है कि जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करेगा उसका योगक्षेम मैं करुँगा। यहाँ योग का अभिप्राय अप्राप्त की प्राप्ति तथा क्षेम का अर्थ है प्राप्त की सुरक्षा। जीवन में इसकी भी सतत् आवश्यकता होती है क्योंकि यदि किसी

प्रकार मन पर नियंत्रण स्थापित हो गया तो उस स्थिति की सुरक्षा भी आवश्यक है। अन्यथा किसी क्षण मन पुनः चंचल हो सकता है। कामादि रजो गुण मन एवं बुद्धि को सतत् आवेष्टित करने का प्रयास करते रहते हैं। इसीलिए सन्त तुलसीदास ने भी कहा है 'कामादि रोष रहितं कुरु मानसं में'। इन प्रवृत्तियों का दमन ईश्वर की असीम अनुकम्पा से ही सम्भव होता है। इन्द्रिय निग्रह और ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग गीता ही दिखलाता है।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

मालवीय भवन, ४ मार्च, २००१

कृष्णावतार एवं योग

डा० राधेश्याम चतुर्वेदी
संस्कृत विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भगवान के अवतार की चर्चा सभी पुराणों एवं अनेक स्मृति ग्रन्थों में मिलती है। इस अवतार का कारण या रहस्य गीता में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्हयम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। *(४/७–८)*

उक्त दो श्लोकों के माध्यम से भगवान के अवतार लेने का कारण स्पष्ट किया गया है। यह अवतार माया के अधिष्ठाता परमात्मा का होता है। परमात्मा की तीन शक्तियाँ हैं– ह्वादिनी, सन्धिनी एवं संवित। इनमें से संवितशक्ति या चित्तशक्ति से जीव का और माया शक्ति से प्राकृत जगत में अवतीर्ण होकर कर्म करता है और कर्मों के अनुसार फल भोगता है। यह जीव परमात्मा का भिन्नांश है और इसी रूप में अवतीर्ण होता है। परमात्मा का भी अवतार होता है। परमात्मा नाना प्रकार के देह को धारण कर अवतीर्ण होते हैं। वे इस विश्व में आंशिक रूपेण अवतीर्ण होते हैं। आज तक के सभी अवतार ऐसे ही हुये हैं। यद्यपि उनका पूर्ण रूपेण अवतार हो सकता है किन्तु अभी तक हुआ नहीं है।

इस अवतार का उद्देश्य धर्मरक्षण, साधुपरित्राण एवं दुष्ट विनाश होता है। इस धर्मरक्षण आदि से जो जीव का कल्याण होता है वह किन्चित काल के लिये होंता और किसी एक देश में होता है। जीव का एकान्तिक और आत्यान्तिक कल्याण अवतार द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि जीव की अन्तः प्रकृति भगवान द्वारा दण्ड पाने के बाद भी शुद्ध नहीं होती। इसीलिये सर्वत्र जीव के स्वर्ग लोक जाने का वर्णनं मिलता है। विश्वमाया की निवृत्ति हो जाय। उसके लिये जीवात्मा को स्वयं प्रयास करना पड़ता है और गीता इसी के लिये योग का उपदेश देती है।

भगवद्गीता में तीन योगों का वर्णन मिलता है– कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। वस्तुतः चह उपर्युक्त क्रम अपूर्ण है। योग की अन्तिम सीमा प्रेम है जिसकी चर्चा गीता में नहीं है। कर्म से ज्ञान, ज्ञान से भक्ति और भक्ति से प्रेम होता है। यही क्रम है। ये परस्पर अनुस्यूत है। हाँ इनका प्राधान्य अलग–अलग है। जब कर्म का प्राधान्य रहता है तो ज्ञान और भक्ति गौण रहते हैं। कर्म की तीन विधायें है– कर्म–अकर्म और विकर्म। इनके स्पष्ट स्वरूप बोध के बिना निष्काम कर्मयोग असम्भव है। "इति ते ज्ञानमाख्यातम्" कहकर भगवान ने जिस ज्ञान की ओर संकेत किया है वह निष्काम कर्म के बाद ही प्राप्त होता है। उक्त ज्ञान की पराकाष्ठा का स्वरूप–

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।

श्लोक में लक्षित होता है। जिसको 'वासुदेवः सर्वम्' ज्ञान हो जाता है उसी की परमात्मा में अनन्य भक्ति होती है। अनन्य भक्ति का स्वरूप भी कृष्ण ने स्वयं बताया है–

यत्करोषि यदश्नासि जजुहोददसियत्।
यत्ततपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणाम्।।

यह भगवदर्पण केवल कर्म का ही नहीं ज्ञान का भी है। जब योगी सबमें भगवान को और सबको भगवान में देखता है तब वह परमज्ञानी और अनन्य भक्त हो जाता है। इस समय उसके द्वारा जो भी कर्म किये जाते हैं वे ही यथार्थत: निष्काम कर्म है। ऐसे ही योगी का ज्ञान गुह्यात् गुह्यातम और भक्ति परा भक्ति होती है।

मालवीय भवन, १८ मार्च, २००१

भगवद्गीता एक जीवन प्रणाली

स्वामी नीकलण्ठानंद जी महाराज
रामकृष्ण मिशन, होम ऑफ सर्विस,
लक्सा, वाराणसी

भारतवर्ष के इतिहास में श्रीमद्भगवद्गीता से श्रेष्ठ ग्रन्थ कोई अन्य नहीं है। भगवद्गीता एक जीवन की प्रणाली है। हमें जीने की कला यह गीता सिखाती है। सभी प्राणियों में मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, जिसकी रचना इसीलिए ही हुई कि वह जाने समझे कि मैं कौन हूँ? और मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? जीने के लिए तो सभी जीते हैं, किन्तु सृष्टि—विज्ञान तथा आत्मज्ञान के विषय में मानव ही विचार कर सकता है। विचार करना ही इसकी विशेषता है और यही पशु से इसको पृथक करती है। अपने दिव्य स्वरूप की अनुभूति ही उसका चरम फल है। पशुत्व, मनुष्यंत्व, दिव्यत्व इन तीन श्रेणियों में व्यक्ति को विभक्त कर देखा जाता है। मनुष्यत्व से दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए साधना करनी पड़ती है। वह साधना अध्यात्मशास्त्र के माध्यम से ही संभव है। अध्यात्मशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है, अपने अन्दर चैतन्य सत्ता को जानना।

योगेश्वर श्रीकृष्ण और मानवश्रेष्ठ अर्जुन की उपस्थिति से अवश्य ही समृद्धि, विजय या उन्नति, भूति अर्थात भूत व वर्तमान के ज्ञानालोक से प्रकाश तथा अचल यानि कभी नष्ट न होने वाली नीति प्राप्त होती है। मनुष्यत्व—प्राप्ति के बाद दिव्यत्व की प्राप्ति होती है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकाग्रता आवश्यक है। वही अर्जुन में समाहित है।

श्रीमद्गीता के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर इस दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए उपाय बाताये गये हैं। दिव्यत्व वह है जो अविनाशी है और सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है तथा अन्तरहित है। इसीलिए वह अप्रमेय अर्थात वह निस्सीम है। इस दिव्यत्व को जाने बिना मेरा जीवन पशुतुल्य है। सर्वश्रेष्ठ वस्तु को जाने बिना जगत ज्ञान व्यर्थ है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह इस विलक्षण एवम् अलौकिक जीवन को प्राप्तकर इसे क्षुद्र कार्यों और व्यर्थ की बातों में न गँवाये।

उस ब्रह्म के हाथ, पैर, नेत्र आदि इन्द्रियाँ समस्त जगत को व्याप्त कर अवस्थित हैं। हमारे शास्त्रों के द्वारा इसी शाश्वत सत्य को रूपायित करने के लिए शास्त्रज्ञों ने आजीवन प्रयत्न किया। वह ब्रह्म ही व्यष्टि एवं समाष्टि रूप में पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनों में व्याप्त है। वही सभी के हृदय में विद्यमान है, वही स्मृति, धृति आदि के रूप में भी है। स्वामी विवेकानन्द ने इन्द्रिय निग्रह, एकाग्रमन, उत्कट प्रेम एवं कर्तव्य परायणता इन चारों के माध्यम से समस्त कार्यों की सफलता प्राप्त करने की बात कही है। भारतवर्ष में जन्म का उद्देश्य ही धर्म एवं शास्त्र द्वारा अपने जीवन को नियमित कर व्यवस्थित होना है। पशुतुल्य जीवन से पार्थक्य करने के लिए एकाग्रता आवश्यक है तथा परमतत्व को व्यक्ति के अन्तर मानकर उसके प्राप्ति उत्कट प्रेम होना चाहिए। मन जिस वस्तु की एकाग्रता से चिन्तन करता है, वह उसे प्राप्त हो जाती है।

नियत कर्म को कर्तव्य समझकर करना ही कर्मयोग है। इसे ही भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि के द्वारा कहा गया है। इस गुह्तम शास्त्र गीता को जानकर मानव धन्य हो सकता है।

मालवीय भवन, २५ मार्च २००१

गीता का प्रतिपाद्य आत्मतत्व का ज्ञान

डा० द्वारिका प्रसाद द्विवेदी
मानित उपाचार्य व्याकरण
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संसार का हर प्राणी आध्यात्मिक, अधिभौतिक एवं आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों से ग्रस्त है। आत्मतत्व के ज्ञान के बिना इन दुःखों की निवृत्ति संभव नहीं है। आत्मानात्मविवेक के लिए ही हमारे दर्शन शास्त्रों का उद्भव हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता ने भी आत्मानात्म–विवेक का उपदेश किया है। सांख्य शास्त्र ने भी तत्व विवेक को ही दुःखत्रय के उन्मूलन के उपाय के रूप में बताया। वेदांत शास्त्र ने 'तत् त्वम् असि' इत्यादि वाक्य द्वारा जीव ब्रह्म ही है– इस प्रकार अद्वैततत्व का निरूपण किया है। इसमें भी नित्यानित्यवस्तुविवेक की बात कही गई है। किंतु ये मार्ग चूंकि कठिन है अतः परम कृपालु भगवान कृष्ण ने कृपा करके समस्त वेदों और उपनिषदों के सारभूत तत्व को ७०० श्लोकों में गीता के रूप में संसार को प्रदान किया है। इसके लिए मुमुक्षु ही अधिकारी हैं, यह बात नहीं अपितु विषाद से ग्रस्त प्राणी भी इसके अधिकारी हैं। अर्जुन के सामने यह सबसे बड़ी समस्या थी कि जो उनके अत्यंत प्रेमासाद जन हैं उनके ऊपर वे बाण से प्रहार कैसे करें। इस प्रकार अर्जुन विषाद से ग्रस्त होता है और कहता है कि इन प्रियजनों का वध कर राज्य भोग करने की अपेक्षा भिक्षावृत्ति वरण करना मेरे लिए श्रेयस्कर है। इस प्रकार विषाद से ग्रस्त अर्जुन को भगवान यही समझाते हैं कि आत्मा अजर–अमर है, नित्य हैं। उसका वध कभी

हो ही नहीं सकता। अतः तुम अपने कर्तव्य का पालन करो। इस प्रकार गीता का प्रतिपाद्य आत्मतत्व का ज्ञान ही है। कर्म करते हुए अहंकार न हो इसके लिए भगवान ने गीता के मध्य में भक्तियोग का प्रतिपादन किया है निष्काम कर्म करने का उपदेश करते हुए भगवान का तात्पर्य आत्मतत्व का विवेक कराना ही है। इसीलिए भगवान बार—बार कहते हैं कि जिसके द्वारा मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है वह प्रवृत्ति कराने वाला तत्व ईश्वर है। अतः निष्कामभाव से कर्म करो क्योंकि निष्कामभाव से कर्म करने पर तुमको आत्मतत्व का ज्ञान होगा। गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में गीता को उपनिषद् कहा गया है। उपनिषद् ब्रह्म विद्या है। अतः गीता भी ब्रह्मविद्या ही है। चित्त के विक्षेपों को दूर करने के लिए उपासना आवश्यक है।

मालवीय भवन, १ अप्रैल, २००१

जीवन जीने की पद्धति गीता है

डा० बाबू लाल मिश्र
मानित प्रबंधक,
श्री विश्वनाथ मंदिर,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा० मिश्र ने गीता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि, जीवन जीने की पद्धति गीता है। संसार के समस्त कार्यों का निर्वाह करते हुए उससे कैसे निर्लिप्त रह सकते हैं, इसका ज्ञान गीता में है। जो भी गीता को पढ़ता है उसे गीता के सिद्धान्त अपने धर्म के अनुरूप लगते हैं। इसलिये सभी धर्मावलम्बियों ने गीता का अध्ययन किया है व करते हैं तथा इसका संसार की सभी भाषाओं में अनुवाद हुआ है। गीता का काव्य के रूप में होने का विशेष महत्व है क्योंकि कथा व काव्य का मन पर सीधा प्रभाव होता है।

संसार ही सबसे बड़ा शत्रु है, जीतना है तो उसे जीतना चाहिए। लेकिन संसार को जीतने के लिये स्वयं को जीतना आवश्यक है। स्वयं को कैसे जीतें इसका मार्ग श्रीकृष्ण ने गीता के द्वितीय अध्याय से प्रारंभ किया और तृतीय अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन किया। रामचरितमानस में तुलसीदास ने विजयरथ को शरीर के रूपक में प्रस्तुत कर इसी तथ्य को प्रकाशित किया।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रभु के विभिन्न रूपों की किस प्रकार पूजा करें इसका वर्णन है।

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है कि प्रभु परमेश्वर्यशाली, ज्ञानी, आनंदकंद आदि हैं। प्रभु के पास दीनता नहीं है परन्तु वो दीनदयाल हैं। जो व्यक्ति जितना भी प्रभु के प्रति दीन होता है प्रभु उसके प्रति उतने ही आसक्त होते हैं, उसका कल्याण करते हैं। भक्तों के वश होते आये भगवान। रामायण मे रामजन्म के समय यही कहा गया "भये प्रकट कृपाला, दीन दयाला ——" प्रभु आत्मसमर्पण करने पर शरणागत की रक्षा करते हैं। गीता में भी इसी शरणागति का श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है। गीता के अध्याय अट्ठारह में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि सम्पूर्ण धर्मों का अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य, कर्मों को मुझ में त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा।

प्रभु कर्म और धर्म के भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, "अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनंद का आश्रय मैं हूँ। जीव तो मात्र निमित्त है। दोनों ही श्रेष्ठ हैं। ज्ञान और भक्ति शक्कर के खिलौने की तरह है। ज्ञानी भगवान को पकड़ता है परन्तु भक्त को भगवान पकड़ते हैं।"

प्रभु ने गीता में अर्जुन को दर्शन का उपदेश बड़े सहज, सरल शब्दों में दिया। गीता में साहित्य, दर्शन, ज्ञान, योग का समरस समाहित है।

मालवीय भवन, ८ अप्रैल, २००१

श्रीमद्भगवद्गीता एवं उसके कुछ महत्वपूर्ण स्थल

डा० केदारनाथ त्रिपाठी
भू. पू. अध्यक्ष
दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

रामायण में प्रतिपादित श्रीरामचरित तथा श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित भगवान कृष्ण के उपदेश, ये दोनों ही मानव मात्र के लिये अभ्युदय और निःश्रेयस के साधक हैं। श्री रामचरित के बारे में कहा गया है–

चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुसां महापातक नाशनम्।।

महामुनि वाल्मिकि का उक्त कथन भगवान कृष्ण के संबंध में भी वैसे ही चरितार्थ है–

वचन श्रीकृष्णस्य शतकोटि प्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुसां महापातक नाशनम्।।

''गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः'' का भी यही अभिप्राय है। एक तरफ समस्त शास्त्र और एक तरफ श्रीमद्भगवद्गीता दोनों समान हैं। भगवान राम का कोई भी चरित्र तत्काल हमारे चरित्र को प्रभावित करने वाला है, वैसे ही भगवद्गीता का कोई भी श्लोक पढ़ा जाय वह अमृत बिन्दु के समान अन्तःकरण को तृप्त कर देता है। उपदेशों के संबंध में भगवान ने स्वयं कहा है–

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।। (१८/६८)

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।। (१८/७१)

इस गीताशास्त्र में मानव मात्र का अधिकार है। भगवान स्वयं कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पायोनयः।
स्त्रियोवैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। (९/३२)

इसीलिये यह विश्व में श्रद्धा के साथ पढ़ी जाती है और विश्व की भाषाओं में अनूदित है।

श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदों का सार है तथा इसका पर्यवसान ब्रह्म विद्या में है। यह सम्पूर्णरूप में एक योगशास्त्र है, जिसके अट्ठारहों अध्यायों में अर्जुन विषाद योग से प्रारंभ कर मोक्ष संन्यास योग तक अठ्ठारह योग प्रतिपादित हुए हैं। इनमें मानव मात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस के दो मुख्य मार्ग बताये गये हैं— सांख्ययोग का मार्ग और कर्मयोग का मार्ग। सांख्ययोगी अपने में किसी प्रकार के कर्तव्य का अभिमान नहीं करता। इन्द्रियां ही स्वभावानुसार अपने—अपने विषय में प्रवृत्त हैं, ऐसा ज्ञान करता है। कर्मयोग में कर्मयोगी शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा कर्म करता हुआ भी उसमें या उसके फल में सङ्ग नहीं करता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः (कर्मयोगिनः) कर्म कुर्वन्ति संग त्यकवाऽत्मशुद्धमे।।

अर्थात कर्म कर्तृत्व का अभिमान रहने पर भी फल की सिद्धि या असिद्धि में समभाव कर्मयोग है। यद्यपि ये दोनों साधन सांख्य योग और कर्मयोग परस्पर भिन्न–भिन्न हैं, तथापि इन दोनों साधनों का परिणाम एक होने से ये अभिन्न माने गये हैं।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। *(५/५)*

केवल साधनावस्था में अधिकारी के भेद से इन दोनों मे भेद है और ये भिन्न–भिन्न मार्ग के रूप में बताये गये हैं। इस बात को पहले भी कहा जा चुका है–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। *(३/३)*

इसलिये एक अधिकारी के लिये ज्ञान, कर्म का समुच्चय नहीं है। इसलिये गीता का अभिप्राय यह है कि परम पुरुषार्थ में साक्षात् साधन ज्ञानयोग (सांख्ययोग) ही है और कर्मयोग, ज्ञानयोग के प्रति ही साक्षात् साधन है।

इन दोनों मार्गों में यह भी विशेषता है कि सांख्ययोग का मार्ग कर्मयोग से कठिन है क्योंकि सांख्ययोग मार्ग में देहाभिमान और कर्तव्याभिमान नहीं रहना चाहिये जो कठिन है। कर्मयोग मार्ग में कर्तव्याभिमान रहते हुए भी फलासक्ति मात्र का परित्याग अपेक्षित है, जो अपेक्षाकृत सुगम मार्ग है और भी कहा गया है–

संन्यासस्तु महाबाहो! दुःखमापतुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।। *(५/६)*

अतः कर्मयोग संन्यास का अर्थात् सांख्ययोग का उपाय है। इस प्रकार कर्मयोग मोक्ष के प्रति परम्परया साधक है। यही गीता का तात्पर्य है।

गीता के प्रथम श्लोक में धर्मक्षेत्र शब्द धर्मराज युधिष्ठिर के अभिप्राय से और कुरुक्षेत्र शब्द कौरव पक्ष के अभिप्राय से भी हो सकता है। धर्म क्षेत्र के प्रति मेरे कौरवों ने क्या किया और कुरुक्षेत्र के प्रति पाण्डवों ने क्या किया? यह प्रश्नाभिप्राय भी हो सकता है।

दूसरी स्थिति यह है कि अर्जुन चूँकि धर्मभीरु था, इसलिये वह "विसृज्य सशंर चापं शोकसंविग्न मानसः" हो गया, जबकि अधर्म प्रकृति के कौरवों में यह स्थिति नहीं हुई। इसी प्रसंग में भगवान को अर्जुन के प्रति देह की अन्तवत्ता और आत्मा की नित्यता का तथा अच्छेद्य– अभेद्य होने का ज्ञानोपदेश करना पड़ा। इस सांख्य बुद्धि के प्रतिपादन के बाद अर्जुन को भगवान ने कर्म बुद्धि का प्रतिपादन किया– "कर्म फल का व्यापर्तक है, न कि ज्ञान और भक्ति का।"

कर्मयोगी के लिये "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते" योग अर्थात कर्मयोग। यही कर्म कौशल है और यही कर्म में बुद्धियोग है, यही स्थित प्रज्ञता भी है। इसका उपदेश भगवान ने द्वितीय अध्याय में दिया। अर्जुन का प्रश्न था कि–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते गता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। *(३/१)*

यहाँ भगवान उत्तर देते हैं– "यज्ञार्थात् कर्मणेऽन्यत्रलोकोऽयँ कर्मबन्धनः।" देवता प्रदत्त द्रव्य से देवयज्ञ अवश्य कर्तव्य है।

यज्ञ के कई भेद हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। (४/२८)

यहाँ ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है— "सर्वं ज्ञानयमवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।" इति। इस ज्ञानयज्ञ को कर्मयोग से ही सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि चित्तशुद्धि के लिये यज्ञादि कर्म अपेक्षित है और चित्त शुद्धि के अनन्तर ही ज्ञानयोग की प्राप्ति संभव है।

इनका जो मोहवश त्याग करते हैं वह तामस कर्म त्याग है। जो दुःख समझकर त्याग करते हैं, वह राजस त्याग है। किन्तु उसके संग और फल का त्याग करते हैं, वह कर्मयोगियों का सात्विक त्याग कहा गया है—

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तित। (१८/७)

इति शिवम्।

मालवीय भवन, १५ अप्रैल, २००१

श्रीमद्भगवद्गीता और इसका तत्त्व दर्शन

योगीराज पं० ईश्वरीदत्त भट्ट शास्त्री
महामनापुरी, वाराणसी

भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से गाया हुआ अमृत का भी उपजीव्य "श्रीगीता" है। यह श्रैतप्रस्थान (उपनिषदों) का ज्ञानामृत है। इन ७०० मंत्रो की चैतन्यता इस के पाठ करने वाले को नित्य दिव्य विवेक प्रदान करती है। श्रीमद्भगवद्गीता में शान्तरस की प्रधानता होने से शरीर रूपी कुरुक्षेत्र में पाये जाने वाले रजोगुण के बड़े छोटे असंख्य विकारों को मिलाकर कुल का रूप धारण करने वाले लोग उस अनुरागी धनुर्धारी अर्जुन को देखते ही संकोच में पड़ जाते हैं। वे भी शालीनता और सद्भावना आदि गुणों की प्रसंशा करते करते अपने—अपने कुरुक्षेत्र को धर्म क्षेत्र में परिणत करने का उत्साह बना लेते हैं। जब भगवान उन के अन्तःकरण को शुद्ध हुआ देखते हैं, उसी क्षण उनको क्रमशः श्रीहरि भगवान अपने द्वार पर सुखद निवास दे देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रारम्भ में धर्म शब्द है। इस आधार पर त्रयोदश अध्याय के अनुसार शरीर रूपी क्षेत्र की पवित्रता का उपाय करना वर्तमान समय में तो अनिवार्य हो गया है। अन्यथा भरत का भारत पाशविक वृत्ति वाले, धनवान कहलाने वालों के अज्ञान रूपी ज्ञान के आतंक से बर्बरता से भरत का भारत पीड़ित हो जायेगा। इस प्रकार शुभाशुभ की अनन्त भ्रान्तियाँ आ सकती हैं। पृथ्वी का सौन्दर्य, माधुर्य, कीर्ति शोभा, वाणी की गरिमा, स्मृति जो वैदिक वाङ्मय एव त्रिष्कन्धात्मक ज्यौतिषशास्त्र, सम्पूर्ण वेदवेदाङ्गों की रक्षा करती है और

विद्यार्थी को मेधावान बनाती है उनका प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। वर्तमान समय में बाह्य पदार्थों की स्मृति अच्छी होने पर करोड़ों का इनाम मिल रहा है और उसका घोर दुःखद परिणाम चंद क्षणों के बाद है।

गीता के अध्याय ५ श्लोक २२ शुद्ध भोग को देने वाला अङ्गिरा ऋषि जैसा महामन्त्र है। निष्कर्ष है कि हे प्रभु! तेरी मंजिल तक पहुँचने की जो लालसा है; उस महती इच्छाशक्ति को विकसित करने के सभी साधन श्रीमद्भगवद्गीता में हैं। उनका आचरण करना ही उत्कृष्टभोग है, क्योंकि विनाशी यम के आतंक से छुड़ाकर श्रीभगवान जी के चरणों में रखने वाले भोग अर्थात् साधन ही हैं। इसलिए अनुरागी अर्जुन यज्ञ, दान, तप की नियत क्रियाओं को जीवन भर करता है। इनको करते रहने से वह त्यागी महात्मा भी है क्योंकि उसका महान लक्ष्य लोक संग्रह ही है। इसलिए वह प्रजा के आँखों का तारा माल का चाँद और सिर का मौर है। जितने भी उपमान हैं वे सब अर्जुन की भूषणभूक्ष्मा रूपी वीरता अपने जन्म लेने की सार्थकता से प्रसन्न है।

इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण से अर्जुन को साधनाकाल में वही योग मिल गया जो सूर्य को मिला था। महाभारत के समय वह केवल अस्त्र–शस्त्र विद्या के ही रूप में शेष रह गया था। ब्रह्मास्त्र के बिना असुरों पर विजय पाना संभव ही नहीं था। श्रीभगवान के पास तो पाशुपतास्त्र भी है और अनन्त चक्रों के निधान अर्थात् तेज–प्रताप आदि पराक्रमों के निधान हैं। हे कृपा–निधान! आप ही तारा महाविद्या भी हैं। यह महाविद्या तारापीठ में प्रच्छन्न रूप में है और ज्ञान गंज तिब्बत में तो आज भी प्रत्यक्ष विद्यमान है। वहाँ विराजमान सिद्ध योगी महापुरुषों को भी परम्परा प्राप्त योग विद्या मिली है। वे सूक्ष्म रूप एवं अनेक

रूपों को एक ही साथ धारण करके पर्वों के समय या आवश्यक होने पर दिशा निर्देश करने के लिए पहुँचा करते हैं।

जीवों को धारण करने वाली परांप्रकृति के भी आधार स्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति सद्भाव अर्थात भक्ति से ही संभव है। यह श्री गुरु कृपा के विवेक से प्राप्त होती हैं। शास्त्रों तक सीमित न रह कर साधना के मार्ग पर चलना चाहिये क्योंकि उससे ही दैवी सम्पदा प्राप्त हो पायेगी सावधान रहना क्योंकि सौम्य रौद्र भी है। महाशक्ति का सौम्य दर्शन तो सबको अनुकूल आता है किन्तु रौद्र दर्शन (क्रोध का दर्शन) सबको अनुकूल नहीं आता। रौद्र रूप भगवान योगेश्वर तम के संहार के लिये धारण करते हैं। योगेश्वर कृष्ण सौंदर्य के सारअंश की माधुर्य मूर्ति हैं। प्रतिपालक के रूप में करुणा, दया, वात्सल्य हैं। श्रीभगवान समरस हैं, सभी रस उनमें समाहित हैं। जो स्वयं को ऐसे समरस परमेश्वर में समर्पित कर देता है उसके लिये संसार में कोई अन्य रहता ही नहीं वह अनन्य हो जाता है। हमें ऐसा होने के लिये साधना करना चाहिए।

ऊँ गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुर्गुरुदेव महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादि हेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः।।

मालवीय भवन, २२ अप्रैल, २००१

GITA: A GUIDE FOR ALL

Prof. Y. C. Simhadri
Vice Chancellor
Banaras Hindu University

Hon'ble Padmashree Prof. Venkatachalam, Prof. K. D. Tripathi, Esteemed colleagues and Young students.

It is indeed a great honour for us to have an eminent scholar like Prof. Vishvanath Venkatachalam amongst us on the occasion of the valedictory function of Sunday Discourses on Shrimadbhagwadgita for the session of 2000-2001.

Our minds today are confused. There is an irrationality and impulsiveness among people. There is a moral and spiritual vacuum. The cultural invasion has created a chaos beyond imagination. Strange voices are heard, the life is sandwiched between paradoxes of extreme nature.

It we are not to be seduced by false notes, if we are to preserve our national chastity, the message which has come down to us from ancient times will have to be revitalized. We must remind ourselves the teaching of our Great Souls, Rama, Krishna, Buddha, Mahavira, Nanak etc. Lord Krishna has a different place in India. He is not only God but is a living presence. Lord Krishna is loved as a child, as dearest friend, revered as a saviour. In Mahabharata, he became not only Partha Sarthi (driver of Arjun) but also the Sarthi of his perplexed conscience, conflicting values, moralities of

the age, unmanliness etc. Here comes Bhagvad Gita. Bhagwad Gita has 700 verses. William Von Humboldt described it as "the most beautiful, perhaps the only true philosophical song existing in any known tongue". Its popularity and influence have not waned ever since it was composed and written. Today its appeal is as strong as ever in India. In times of crisis, when the mind of man is tortured by doubt and is torn by conflicts of duties, it turns all the more to the Gita for light and guidance. It is a scripture of crisis, not only of political or social crisis but of crisis in the spirit of man. Swami Vivekanand has described Gita as a Guidebook for the people. He said that Krishna was the greatest man who ever lived in India. He recognised the need of the people, and the desirability of preserving all that had already been gained. He preserved, reconciled and harmonised every gradation of physical practice, human advancement, the path of knowledge, the path of action and the path of faith.

The message of Gita is not sectarian or addressed to any particular school of thought. Pt. Nehru said that it is Universal in its approach for every one. Brahmin or outcaste, because it establishes that "All paths lead to me."

In this context Gita deals with the practical problems in spiritual background of human existence. It is a call to action to meet the obligations and duties of life, but always keeping in view that spiritual background, and action and life have to be in accordance with the highest ideals of the age, for these may vary from age to age. The Yugadharma, the ideal of the particular age has always to be kept in view. Present Yugadharma of
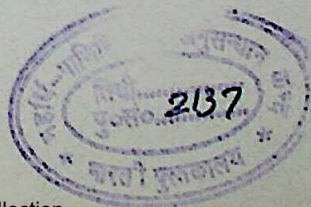
Kalyug is simplicity, discipline, honesty and service to mankind.

In the end, I would say that by following the path shown by Gita i.e. KARMA (do thou duties); GYANA (through knowledge); and BHAKTI (devotion/dedication), we can get real happiness and peace in life.

Presidential Address
Malaviya Bhawan
29th April, 2001

गीता समस्त वेदार्थ का सारभूत तत्त्व है

पद्मश्री आचार्य विश्वनाथ वेङ्कटाचलम
भूतपूर्व कुलपति,
सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीता जीवन के हर क्षेत्र में प्रकाश डालती है। जीवन के हर क्षेत्र के व्यक्ति को इसमें प्रकाश मिलता है। अंग्रेजी भाषा के ट्रेडिशन शब्द का अर्थ सम्प्रदाय प्रयुक्त किया गया है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में सम्प्रदाय और परम्परा दो भिन्न–भिन्न शब्द हैं। सम्प्रदाय का प्रयोग आजकल दूषित हो गया है। उसमें 'बू' आने लगी है। परन्तु सम्प्रदाय एक वस्तुनिष्ठ शब्द है। परम्परा शब्द का प्रयोग सम्प्रदाय से वस्तुतः भिन्न है। भगवान शंकराचार्य ने कहा है कि सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए बिना शास्त्र का ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार रसायन शास्त्र के सम्प्रदाय को जाने बगैर हम उसे नहीं जान सकते, उसमें प्रयोग नहीं कर सकते, उसी प्रकार धर्म शास्त्र को, वेद को, वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद तथा श्रीमद्भगवद्गीता के सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए बगैर नहीं जान सकते। श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य करते हुए इस सावधानी को ध्यान में रखना चाहिए। अन्यथा (Basics) मूलभूत तत्वों के विवेचन में दोष आने की संभावना हो सकती है। इसमें किंचित भी संदेह नहीं कि गीता मानवमात्र के लिये है, तथापि उसके रहस्य ज्ञान के लिये सम्प्रदाय का ज्ञान अपेक्षित है। सामान्य व्यक्ति जानता है कि गीता में ज्ञान, कर्म, भक्ति सभी कुछ है। किन्तु जहाँ तक गीता के अर्थ का प्रश्न है, गीता अनेकार्थ नहीं है। गीता में एकार्थ है। गीता समस्त वेदार्थ का सारभूत तत्व है। हमारे मनीषियों ने शास्त्रों को निचोड़ कर उनका सार क्या है, निकाला है। हमारे

भाष्यकारों ने इसी के पीछे व्यायाम किया है। इसमें मतभेद हो गये हैं। परस्पर विरोधी मत दिखाई देते हैं परन्तु यह मतभेद वास्तविक नहीं हैं क्योंकि एक ऋषि ने जैसा देखा लिखा, दूसरे ने जिस पक्ष को देखा लिखा, और उन्होंने अन्त में कहा कि विवेक पूर्वक मैं इसका अर्थ धारण करने का प्रयास करता हूँ। इस तरह भाष्यकारों ने परस्पर विरोधी बातों के विषय में उत्तर देकर अपने कतर्व्य का निर्वाह किया। इसमें सबसे श्लाघनीय बात है कि विशुद्ध भारतीय परम्परा से भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन। भाष्य करने का अधिकार सबको है परन्तु अधिकार का प्रयोग करने से पूर्व पात्रता अर्जित करनी चाहिए, तब वह प्रयोग सार्थक होगा।

भगवद्गीता के संबंध में कई प्रश्न पूछे जाते हैं। एक समस्या इस विषय में यह है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश कहाँ दिया? इसका उत्तर स्पष्ट है युद्ध भूमि में। यूद्ध भूमि में कैसी परिस्थिति थी, दूसरा प्रश्न उठता है। दोनों सेनायें आमने—सामने युद्ध के लिये तैयार थीं। बटन दबाने की देर थी, युद्ध प्रारंभ हो जाता। युद्धघोष हो चुका था। ऐसी अवस्था में अर्जुन ने अपना गांडीव नीचे रख दिया, तब श्रीकृष्ण जो अर्जुन के सारथी थे, गीतोपदेश कहा। गीता में ७०० श्लोक हैं। भगवान शंकराचार्य ने गीता के अपने भाष्य में लिखा कि जैसा भगवान ने उपदेश दिया, व्यास जी ने उसे ७०० श्लोकों में बांध दिया। उपदेश का स्वरूप जैसा है उसको वैसा ही रखने का प्रयास किया। इन ७०० श्लोकों में कुछ श्लोक अर्जुन के प्रश्न के हैं, कुछ संजय के हैं। अट्ठारहवें अध्याय के बाद के पांच श्लोक तो संजय के हैं। इसलिये ७०० श्लोकों का जो कृष्णार्जुन संवाद है उसे अगर युद्ध भूमि में जल्दी—जल्दी भी पढ़ा जाये तो एक या डेढ. घंटा तो कम से कम लगेगा। उस समय बाकी सैनिक, योद्धा क्या करते रहे होगें? क्या इस तरह का उपदेश युद्ध भूमि में संभव

है। तब क्या गीता के सारे श्लोक श्रीकृष्ण के वचन नहीं हैं? व्यास जी ने उन्हे लिख दिया है। शंकराचार्य ने इसका समाधान करते हुए लिखा कि (भगवता यथोपदिष्टम) जैसा उपदेश श्रीकृष्ण ने किया वैसा ही गीता में है। गीता के अट्ठारहवें अध्याय में इसका सूत्र दिया गया है:

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्ममहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।। (१८/७५)

व्यास जी की कृपा से दिव्यदृष्टि द्वारा मैंने इस परम रहस्य युक्त गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान से सुना।

श्रीकृष्ण के लिये प्रयुक्त योगेश्वर पद अत्यंत महत्व का है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। (१८/७८)

योगेश्वर गीता में जिसे कहा है उसे समझने के लिये काल, समय को समझना होगा। काल के अवरोध को समाप्त कर (Transcendent) होने की शक्ति, समय व काल के बंधन से परे होने की शक्ति योगेश्वर में है। योगेश्वर के पास काल का बोध समाप्त हो जाता है। अगर योगेश्वर को काल का विध्वंस करने वाला आप सोच सकते हैं तो ७०० श्लोक का समय क्षणमात्र में भी हो सकता है। महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश में इस काल विध्वंस को एक घटना के द्वारा स्पष्ट किया है।

राजा दिलीप और उनकी पत्नी महर्षि वशिष्ठ से अपने निसंतान होने की बात कहते हैं। वशिष्ठ योग समाधि में ध्यानस्थ होकर पूर्व जन्म की घटनाओं को देखते हैं। उन्हें उनके निसंतान होने का कारण और

उपाय बताते हैं। योग समाधि के कारण कालबोध का विध्वंस संभव हो सका। श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् योगेश्वर हैं उन्होंने काल की सीमा से परे ७०० श्लोकों का सवांद क्षणांश में संभव बना दिया। विष्णु के जिस दिव्य रूप का दर्शन अर्जुन ने किया, कौशल्या माता ने, देवकी माँ ने, यशोदा मैया ने किया, उसी दिव्य रूप का दर्शन व्यास के अनुग्रह से संजय ने किया। योगेश्वर श्रीकृष्ण के लिये युद्धभूमि में अर्जुन को गीतोपदेश क्षणमात्र में करना उन जैसे दिक्, काल, समय की सीमा से परे भगवान का ही कौतुक है। गीता में इसलिये सब योग ही है। जैसा कि पुष्पिका में लिखा है:

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः।

मालवीय भवन, २९ अप्रैल, २००१
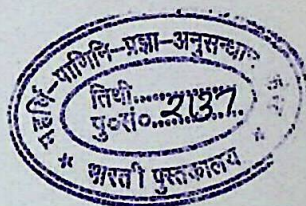
卐 नियम करो कि प्रत्येक सप्ताह में डेढ़ घंटा धर्म के लिये छोड़ दोगे मैं यही गुरु दक्षिणा माँगता हूँ, इसके बदले में मुझसे सर्वस्व ले लो।

卐 हिन्दू विश्वविद्यालय माता है। इस माता को डेढ़ घंटा [illegible]ट कर[illegible] और इस संस्थान के धार्मिक उत्सवों से, गीता प्रवचन से शि[illegible] लो [illegible]र देख लो इससे जीवन में कितना परिवर्तन हो जाता है।

卐 केवल इस विश्वविद्यालय में विद्या पढ़ना ही नहीं है। इसके साथ–साथ चरित्र बनाना है। ज्ञान और चरित्र दोनों का मेल कर देने से संसार में मान होगा, गौरव प्राप्त होगा।

पंडित मदन मोहन मालवीय

मूल्य– पच्चीस रूपये मात्र

डॉ. आर. के. उपाध्याय, प्रभारी, बी. एच. यू. प्रेस, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।